समुन्द समाना बुन्द में

आचार्य रजनीश

सम्पादक
डॉक्टर रामचन्द्र प्रसाद
एम० ए०, पी० एच-डी० (एडिनबरा)
डी० लिट० (पटना)

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

मोतीलाल बनारसीदास
प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : १. चौक, वाराणसी (उ० प्र०)
२. अशोक राजपथ, पटना (बिहार)

प्रथम संस्करण, नवम्बर १९७१

मूल्य : रु० ७·००

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, अशोक राजपथ, पटना-४ द्वारा प्रकाशित तथा विष्णु यंत्रालय, पटना-४ द्वारा मुद्रित।

आचार्य रजनीश : एक परिचय

आचार्य रजनीश वर्तमान युग के युवा-द्रष्टा, क्रांतिकारी विचारक, आधुनिक संत, रहस्यदर्शी ऋषि और जीवन-सर्जक हैं।

धर्म, अध्यात्म और साधना में ही इनका जीवन-प्रवाह है। इसके सिवा कला, साहित्य, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र, आधुनिक विज्ञान आदि में भी ये अनूठे और अद्वितीय हैं। जीवन को उसकी समग्रता में जानने, जीने और प्रयोग करने के ये जीवन्त प्रतीक हैं। जीवन की चरम ऊँचाइयों में जो फूल खिलने संभव हैं, उन सबके दर्शन इनके व्यक्तित्व में मिलते हैं।

११ दिसम्बर, १९३१ को मध्यप्रदेश के एक छोटे-से गाँव में इनका जन्म हुआ। सन् १९५७ में इन्होंने सागर-विश्वविद्यालय से दर्शन-शास्त्र में एम० ए० की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ प्राप्त की। अपने विद्यार्थी-जीवन में ये बड़े क्रांतिकारी, अद्वितीय जिज्ञासु तथा प्रतिभाशाली छात्र थे। रायपुर और जबलपुर महाविद्यालयों में क्रमशः एक और आठ वर्ष के लिए ये आचार्य पद पर शिक्षण-कार्य करते रहे। सन् १९६६ में नौकरी छोड़ कर ये अपना पूरा समय प्रायोगिक साधना के विस्तार और धर्म के पुनरुत्थान में लगा रहे हैं।

आचार्य श्री के प्रवचनों के अनेकानेक संकलन पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहे हैं। अब तक लगभग ३० बड़ी पुस्तकें तथा २५ छोटी पुस्तिकाएँ हिन्दी में ही प्रकाशित हो चुकी हैं। अधिकतर पुस्तकों के गुजराती, अँग्रेजी और मराठी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। हजारों की संख्या में देशी तथा विदेशी साधक इनसे विविध गूढ़तम साधना-पद्धति में एवं प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में प्रेरणा पा रहे हैं।

आचार्य जी के प्रवचन सूत्रवत् हैं, सीधे हैं, हृदय-स्पर्शी हैं, मीठे हैं, तीखे हैं और साथ ही पूरे व्यक्तित्व को झकझोरने और जगानेवाले हैं।

अन्तर्वस्तु

आमुख

पटने में आचार्य रजनीश की वह पहली धर्मदेशना थी और मुझे ऐसा लगा था कि तथागत की भाँति उनका भी अवतरण सत्वों को ज्ञान का प्रतिबोध कराने के लिए हुआ था। जब वे धर्मोपदेश के पूर्व समाधिस्थ हुए तो मैंने देखा :

उनका ललाट शुद्ध सोने का सा है,

उनकी आँखें झरने पर बैठी हुई कपोतियों के समान हैं,

और, लगता है, वे दूध की धुली हैं

तथा बड़ी ही सुडौल हैं।
उनके पाँव स्फटिक स्तम्भों की तरह हैं
जो शुद्ध सोने के आधारों पर रखे हों।
उनकी वाणी अति मधुर है,
वे परम सुन्दर हैं।[1]

वे समाधि से व्युत्थित हुए और उपस्थित जन-समूह को सम्बोधित करते हुए कहा : "प्रिय आत्मन्, एक रेगिस्तानी सराय में एक बड़ा काफिला आया था। यात्री थके हुए थे और ऊँटों को आराम की जरूरत थी। लेकिन जब खूँटियाँ गाड़ी जा रही थीं तब पता चला कि एक ऊँट की खूँटी और रस्सी खो गई है। उस ऊँट को खुला छोड़ना अयुक्त था, क्योंकि रात के अँधेरे में उसके भटक जाने की सम्भावना थी। काफिले के मालिक ने सराय के स्वामी से एक खूँटी और रस्सी की माँग की। सराय के स्वामी ने कहा : 'मेरे पास न तो कोई खूँटी है और न कोई रस्सी, लेकिन तुम चाहो तो जाकर खूँटी गाड़ दो, रस्सी बाँध दो और ऊँट से कहो कि वह सो जाय।' काफिले का मालिक बहुत हैरान हुआ। उसने कहा कि यदि खूँटी और रस्सी ही हमारे पास होती तो हम खुद ही न बाँध देते ? हम कौन-सी खूँटी गाड़ दें और कौन-सी रस्सी बाँध दें ? सराय के मालिक को हँसी आ गई और उसने कहा : 'यह जरूरी नहीं कि ऊँट को असली खूँटी और असली रस्सी से ही बाँधा जाय। नकली खूँटी गाड़ दो, उसके गले में झूठी रस्सी बाँध दो और उससे कहो कि वह सो जाय।' ऊँटों के स्वामी को विश्वास तो न हुआ, फिर भी विवश हो उसने झूठी खूँटी गाड़ी। जो खूँटी नहीं थी उस पर उसने चोटें कीं। ऊँट ने चोटें सुनीं और समझा कि खूँटी गाड़ी जा रही है। जो रस्सी नहीं थी उसे उसने ऊँट के गले में बाँधा। ऊँट ने समझा कि रस्सी बाँधी जा रही है और वह सो गया। प्रातःकाल जब काफिला उस सराय से रवाना होने लगा तो काफिले के मालिक ने निन्यानवे ऊँटों की खूँटियाँ उखाड़ीं और रस्सियाँ खोलीं। लेकिन सौवें ऊँट की न तो कोई खूँटी थी और न कोई रस्सी। इसलिए न तो उसकी खूँटी उखाड़ी गई और न रस्सी खोली गई। निन्यानवे ऊँट उठकर खड़े हो गए, पर सौवें ऊँट ने उठने से इनकार कर दिया। उसका मालिक बहुत

---

1. 'सुलेमान का सर्वश्रेष्ठ गीत', ५। दे. धर्मग्रन्थ (इलाहाबाद, १९६५), पृ० ७३८।

परेशान हुआ। सराय के वृद्ध स्वामी से जाकर उसने शिकायत की और कहा कि तुमने कौन-सा मंत्र पढ़ दिया है जिसके कारण मेरा ऊँट जमीन से बँध गया है और उठाने पर भी नहीं उठता। सराय के मालिक ने कहा : 'जाकर पहले खूँटी तो उखाड़ो, रस्सी तो खोलो।' ऊँट के मालिक को उस बूढ़े की जड़ता पर ईषत् क्रोध हुआ और उसने कहा : 'वहाँ न तो कोई खूँटी है और न कोई रस्सी।' बूढ़े ने कहा : 'तुम्हारे लिए वे भले ही न हों, पर ऊँट के लिए हैं। जाओ, खूँटी उखाड़ो और रस्सी खोलो।' झूठी खूँटी उखाड़ी गई और रस्सी से ऊँट के गले को मुक्त किया गया। ऊँट उठकर खड़ा हो गया। सराय के वृद्ध मालिक ने इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा : 'ऊँटों की बात तो जाने दो, खुद तुम और हम झूठ की ऐसी ही खूँटियों से बँधे हैं। इन खूँटियों का कोई अस्तित्व नहीं, पराधीनता की ऐसी ही रस्सियाँ हमारे गले में लगी हैं जिनकी कोई सत्ता नहीं। मुझे ऊँटों का कोई अनुभव न था, परन्तु मनुष्यों के अनुभव के आधार पर ही मैंने तुम्हें ऐसी सलाह दी थी।"

देखते-ही-देखते प्रवचन के साठ मिनट बीत गए।

मैंने तरह-तरह की बोधकथाएँ पढ़ी और सुनी थीं। प्रवचन सुने थे, धर्म-देशनाएँ सुनी थीं। परन्तु किसी भी धर्मोपदेशक ने आजतक न तो शास्त्रों का इतना सशक्त खंडन किया था और न किसी ने गुरुडम का—'कठमुल्लों' का—इतना पुरजोर विरोध ही। न तो अंधश्रद्धा का और न मन्दिरों, मसजिदों तथा गिरजाघरों में ईश्वर की खोज का। मैंने जिन धर्मगुरुओं के प्रवचन सुने थे उनकी परम्परानुगामिनी चेतना भय से आक्रान्त होती थी और उनके व्यक्तित्व में ऐसा भुवनमोहन तेज भी न था। वे स्निग्धभाषी थे, किन्तु उन्हें अपना गुणानुवाद अधिक प्रिय था; वे अज्ञान-तम से आवृत्त जीवों के उद्धार के लिए उपदेश करते थे, किन्तु अपने निस्तार के लिए ही वे अधिक यत्नवान दीखते थे। इसी कारण आचार्य रजनीश की सद्धर्मदेशना मुझे अधिक हित-विधायक, गम्भीर और, साथ ही साथ, बोधगम्य लगी। हुइ-नेंग् की 'अरूप'—गाथा की निम्नलिखित पंक्तियाँ उनके दर्शन और साधना-तत्त्व का सार प्रस्तुत करती हैं :

(१) 'चाहे हम दस हजार रूपों में इसकी व्याख्या कर लें,
परन्तु इन सब व्याख्याओं का उद्गम यह एक मूल सिद्धान्त ही है कि हमें अपने अँधेरे और अस्थायी घर के अन्दर प्रकाश करना है,

आचार्य रजनीश की दृष्टि में मानवात्मा के लिए समुचित आवास न तो राम की नगरी है और न रावण की। इसी प्रकार जीवन का आधार न तो प्रकृति है और न अतिप्रकृति,[1] न काल और न कालातीत, न स्थूल और न सूक्ष्म। इन विरोधी ध्रुव-युग्मों[2] के किसी एक ध्रुव पर जीवन के सत्य का अधिवास नहीं हो सकता। जब हम सृष्टि के विरोध में स्रष्टा को, पृथ्वी के विरोध में स्वर्ग को, तात्कालिक साध्य के विरोध में जीवन के परम सत्य को खड़ा कर देते हैं तो जीवन एक अमूर्त प्रत्यय-मात्र रह जाता है। ध्यानाचार्यों की तरह आचार्यजी भी कहते हैं कि पवित्रता समग्रता का पर्याय है और, इसलिए, वे न तो जीवन के लिए परमार्थ (परमात्मा) की आवश्यकता का निषेध करते हैं और न परम स्वतंत्रता (शैतान) की आवश्यकता का। वे नहीं चाहते कि हम उन विरोधी युग्मों में किसी एक का सहारा लें जिनके बीचों-बीच मानव-जीवन डोलता रहता है। हमारी बुद्धि इन युग्मों के बीच कोई ऐसे सेतु का निर्माण नहीं कर सकती जिससे इनका पारस्परिक विरोध समाप्त हो जाय। बुद्धि के लिए 'अ' और 'न-अ' का विरोध असाम्य (irreconcilable) है। इसलिए वह जीवन की चरम अस्तित्वात्मक (existential) समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकती। एक समस्या तो यह है कि हमारा जीवन यथार्थ—अर्थात् पूर्ण—कैसे हो? इसलिए जेन धर्माचार्यों की तरह आचार्य रजनीश भी चाहते हैं कि हम बुद्धि से परे, अपनी अन्तरात्मा के सत्य की ओर लौटें, उस स्वस्थता की ओर बढ़ें जिसमें इन विरोधों का पृथक्करण नहीं हुआ है।

आचार्यजी के प्रवचनों के श्रवण से किसी में बोधिचित्त का उदय भले ही हो जाय, परन्तु आचार्यजी इस बात पर बल देते हैं कि परमार्थ-सत्य भिक्षुओं और धर्मगुरुओं द्वारा संचारित नहीं हो सकता। वस्तुतः परमार्थ-सत्य का ज्ञान

---

*Within which enlightenment may be sought.

To seek enlightenment by separating from this world
Is as foolish as to search for a rabbit's horn.

—*A Buddhist Bible, p. 521.*

१. Supernature.

२. Pairs of opposite poles.

न तो बौद्धिक अर्थग्रहण की किसी क्रिया[1] द्वारा उपलब्ध हो सकता है और न अनुभूति की किसी क्रिया द्वारा। इसका ज्ञान किसी भी शक्ति के प्रयोग से नहीं हो सकता। स्मरण रहे कि मनुष्य को अपनी पूर्णता की उपलब्धि किसी आंशिक उत्तर से नहीं हो सकती; हमारी सत्ता के किसी खंड-विशेष से, चाहे वह हमारा हृदय हो या हमारा मस्तिष्क, उद्धार नहीं हो सकता। आचार्य रजनीश के प्रवचन जेन की तरह कोरी भावात्मकता के उतने ही विरोधी हैं जितने बुद्धिवाद के। शब्द के सच्चे अर्थ में आचार्यजी पक्षपातरहित हैं और जानते हैं कि पक्षावलम्बन अंधानुयायी श्रद्धालुओं की विशेषता है। इसलिए वे मानव-सत्ता के किसी खंड-विशेष के हिमायती नहीं हैं, प्रत्युत चाहते हैं कि हम अपनी पूर्णता को उपलब्ध हो जायें। बुद्धिवादिता और भावुकता, दोनों ही इस पूर्णता को दबा बैठने की सम्भावनाओं से आपूरित हैं।

विश्व के अन्यान्य धर्मों ने भी घोषणा की है कि सत्य ही मनुष्य को मुक्त कर सकता है, लेकिन आचार्यजी के लिए यह मुक्तिप्रद सत्य स्वसत्ता का सत्य है और इस कारण ठोस एवं व्यक्तिगत भी। चूंकि यह व्यक्तिगत है, इसलिए इसे किसी ऐसे सूत्र में निबद्ध नहीं किया जा सकता जो अन्य लोगों के लिए भी प्रयोजनीय हो। स्वसत्ता के सत्य को निज की सत्ता में और उसी के माध्यम से समझने का यत्न करना चाहिए। यह एक ऐसा मूर्त्त सत्य है जिसे बाहर से चिन्तन द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता। किसी अन्य के लिए इसकी जानकारी हो, यह असम्भव है; किसी अन्य से इसका वर्णन हो, यह अत्यन्त कष्टसाध्य है। हममें से प्रत्येक को अपने ही द्वारा, अपने ही यत्नों से, इसकी प्राप्ति करनी होगी। 'किसी की बातों से किसी की यात्रा नहीं होती। ...अगर मेरी बातें सुनकर आपकी यात्रा हो सके तो बड़ी आसान बात है, तब तो दुनिया में सबकी यात्रा कभी की हो गई होती। हमने बुद्ध को सुना है, महावीर को सुना है। लेकिन सुनने से कभी किसी की यात्रा नहीं होती।'[2] सत्य की अनुकृति नहीं

१. Any act of intellectual understanding एक 'बोधि-गीत' में कहा गया है :

'महान् गजराज खरगोश के संकीर्ण मार्ग पर नहीं चलता,
सम्यक् सम्बोधि बौद्धिकता के संकरे दायरे से बाहर है;
सरकंडे के एक टुकड़े से आकाश को नापना बन्द करो'

२. सत्य की खोज, पृष्ठ १२१

हो सकती और न कोई अपनी निजी सत्ता की वास्तविकता को किसी अन्य व्यक्ति की सत्ता के यथार्थ पर ढाल सकता है । इस सम्बन्ध में आदर्श, परम्परा, धर्मगुरु आदि सब के सब व्यर्थ हो जाते हैं । सत्य की राह स्वयं बनानी पड़ती है । बने-बनाये अथवा घिसे-पिटे मार्ग पर सत्यान्वेषी को चलना नहीं पड़ता । कहा जाता है कि जब शिष्य अपने गुरुओं के शब्द उद्धृत कर उनके द्वारा प्रशंसित होने का प्रयास करते थे तो ध्यानाचार्य अपने डंडे से उनकी मरम्मत तक करने में संकोच न करते थे । इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य का ज्ञान धर्म-देशना से उपलब्ध नहीं होता और न हम किसी पंथ अथवा सम्प्रदाय द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर इसकी प्राप्ति कर सकते हैं । एक ऐसा भी युग था जब लोगों ने ये धर्मदेशनाएँ नहीं सुनी थीं । इसलिए सच पूछिए तो धर्म की शिक्षाएँ, धर्म के उपदेश ऊपर से लादी गई बाहरी चीजें हैं । इन शिक्षाओं और उपदेशों को पकड़ रखना या आत्मसात् कर लेना निरर्थक है । धार्मिक शिक्षाओं को पालन करने की अनवरत चेष्टा ही इस बात का प्रमाण है कि वे हमारे लिए विजातीय हैं । धार्मिक शिक्षाएँ प्रायः सामान्य और अमूर्त हुआ करती हैं, इसलिए आचार्यजी के पास ऐसी शिक्षाओं का न तो कोई भांडार है और न उनके अनुयायियों का कोई विशिष्ट सम्प्रदाय या सिद्धान्त । वे किसी व्यक्ति पर सत्य को आरोपित करना नहीं चाहते और कहते हैं कि आरोपित सत्य आरोपण-मात्र होता है तथा उसमें यथार्थ-अयथार्थ का भेद निरूपित करनेवाली वह क्षमता नहीं होती जो जीवन्त सत्य में होती है । जिस सत्य का आरोपण होता है वह हमारे लिए न तो यथार्थ होता है और न हम उसे अपनी पूर्ण सत्ता से स्वीकार कर पाते हैं ।

आचार्यजी चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने जीवन के विकास के लिए पूरी आजादी मिलनी चाहिए । इसलिए जीवन के सत्य को सूत्रबद्ध करना या शास्त्र का रूप दे देना अयुक्त है । सत्य कोई ऐसी चीज नहीं जिसे हम तिजोरी में बन्द कर सकें और आनेवाली पीढ़ियों को उत्तराधिकार के रूप में सौंप सकें । तिजोरी में बन्द होते ही सत्य दम तोड़ देता है और जो शेष बच जाता है वह मौत की दुर्गन्ध होती है । यह सत्य है कि शव-रक्षा की कतिपय प्रविधियाँ उसे अनन्तकाल तक नष्ट होने से बचा सकती हैं, किन्तु 'शव-लेपन' में मुरदे को जिलाने की ताकत नहीं होती । आचार्यजी यह नहीं कहते कि उन्होंने सत्य को अधिकृत कर लिया है, क्योंकि वे जानते हैं कि सत्य पर किसी

का अधिकार नहीं हो सकता। जो धर्म सत्य को अधिकृत कर रखने का दावा करे वह न तो धर्म है और न उसका सत्य जीवन का सत्य।

धर्म और विज्ञान के संघर्ष में रूढ़िवादी चाहे तो प्रथम विकल्प का समर्थन करते हैं या उदारमना धर्मशास्त्री दूसरे विकल्प का। इनमें आज के मानव की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता नहीं होती, क्योंकि इनमें प्रत्येक को जो चीज उपलब्ध हुई रहती है वह दूसरे को मिली हुई नहीं होती। वही धर्म आज के मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है जो जीवन के लिए पूर्ण सहारा बन सके, अड़ान का काम कर सके और साथ ही साथ परिवर्तन के लिए गुँजाइश रखे। किसी मत-विशेष, किसी सुस्पष्ट एवं सीमांकित शिक्षा-विशेष अथवा किसी सिद्धान्त-विशेष पर आधारित धर्म ऐसा नहीं कर सकता। भिन्न-भिन्न प्रकार के सापेक्ष तत्त्वों (Relatives) से अपबद्ध होने के कारण कोई भी सूत्र अथवा सिद्धान्त पूर्ण रूपेण सार्वभौम नहीं होता। इस कारण समय-समय पर हमारी वर्धमान अनुभूतियों के आलोक में इन सूत्रों का संशोधन भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। स्मरण रखना होगा कि हम जिसे जीवन की संज्ञा देते हैं वह अत्यन्त गत्यात्मक है, इसलिए इसके सत्य को सूत्रबद्ध कर लेना सत्य की हत्या करना है। ध्यानाचार्यों की तरह आचार्यजी धर्म के मामले में उदार एवं समचित्त हैं और किसी प्रकार के शब्द तथा सिद्धान्त के जाल में नहीं फँसते। उनके प्रवचन किसी सम्प्रदाय की मान्यताओं का प्रकाशन नहीं करते और न वे किसी राष्ट्र या जाति-विशेष की सम्पदा हैं। वस्तुतः वे सर्वग्राही हैं और उनका धर्म सार्वलौकिक है—उससे उन सभी लोगों का हित हो सकता है जो जीवन को अखंड बनाने में लगे हैं।

उनका मार्ग सच्चे ध्यान-विद्यार्थी का मार्ग है।

न यश और न लज्जा उनके हृदय को विचलित करते हैं।

वे चित्त के दमन में विश्वास नहीं करते, फिर भी उनका चित्त पाप से निवृत्त है। इस कारण उनके लिए भय का कोई हेतु नहीं है।

'जिनका चित्त स्वायत्त है, उसके सुख की हानि नहीं होती।'

चाहे हम उनकी ताड़ना करें चाहे जुगुप्सा, चाहे उन पर धूल फेंकें चाहे उनके साथ क्रीड़ा करें, वे केवल इतना चाहते हैं कि उनके द्वारा किसी प्राणी का अनर्थ सम्पादित न हो।

उनकी करुणा स्नेह-संवलित है।

उनका चित सुखत्रय (दानप्रीति, परानुग्रहप्रीति, बोधिसंभारसंभरणप्रीति) से आप्यायित है।

वे अपने स्वार्थों को पीछे और परोपकार के आदर्श को आगे रखते हैं। चूंकि वे व्यक्तिगत हित की भावना से रहित हैं, इसलिए उनका व्यक्तिगत हित होता है।[1] पूर्ण ज्ञानी वह है जो अपने को पीछे रखता है पर लोगों का अगुआ बनता है।

हम टकटकी लगाकर देखते हैं, पर उन्हें देख नहीं पाते; इसलिए हम उन्हें अदृश्य कहते हैं।

हम सुनते हैं, पर उन्हें सुन नहीं पाते; इसलिए उन्हें अश्रव्य कहते हैं।

हम टटोलते हैं, पर उन्हें पकड़ नहीं पाते; इसलिए उन्हें सूक्ष्म कहते हैं।

वे निराकार को आकार प्रदान करते और शून्यता से एक प्रतिमा का निर्माण करते हैं।

हम उनसे मिलते हैं, पर उनके अग्रभाग को देख नहीं पाते, हम
उनका अनुसरण करते हैं, पर उनके पृष्ठभाग को देख नहीं पाते।[2]

लाओत्से की भाँति वे इस तथ्य से पूर्णतया अभिज्ञ हैं कि—

पंचरंगों से मनुष्य की आँखें अंधी हो जाती हैं।
पंचस्वरों से उसके कान बहरे हो जाते हैं।
पंचरसों से उसकी रुचि शीर्ण हो जाती है।
सरपट चौकड़ी और शिकार से उसका हृदय उन्मत्त हो उठता है।
वे पदार्थ जिन्हें प्राप्त करना कठिन होता है उसके आचरण को उलझा डालते हैं।
इस कारण सन्त नेत्रों की नहीं, पेट की चिन्ता करते हैं:
एक का निषेध और दूसरे का समर्थन करते हैं।[3]

वे युगद्रष्टा हैं, आदर्शवादी नहीं। समाज, धर्म अथवा परम्परा द्वारा निर्धारित आदर्शों का पालन वे नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि ऐसे आदर्शों से प्रचालित समाजसेवक समाज के दुखों की ही वृद्धि करते रहे हैं। रजनीश का हृदय करुणा और प्रेम से ओतप्रोत है और उनका लक्ष्य है व्यक्ति का पूर्ण

१. ताओ-तेह-किंग, अध्याय ७।
२. उपरिवत्, अध्याय १४।
३. उपरिवत्, अध्याय १२।

रूपान्तरण—उसके जीवन में आमूल क्रान्ति। फिर भी, उनमें न तो महत्त्वाकांक्षा है और न सफलता की कामना। कृष्णमूर्ति की तरह रजनीश का खयाल है कि सुखी आदमी ही धार्मिक आदमी होता है और उसका जीवन ही समाज-सेवा है। भारत के भिखमंगे तब तक धार्मिक न होंगे जब तक वे सुखी न हों, परन्तु साथ ही स्मरण रहे कि धन-सम्पत्ति के अंबार हमें सच्चा सुख प्रदान नहीं कर सकते। सम्पत्ति का बँटवारा भी नितान्त आवश्यक है और सारे देश, सारी पृथ्वी और सभी जीव-जन्तुओं को सुखी करना है। आचार्यजी बारबार इस बात पर बल देते हैं कि महत्त्वाकांक्षा, चाहे वह पार्थिव हो या आध्यात्मिक, दुखों की जननी है, उससे तरह-तरह के भय उत्पन्न होते हैं। जिसे सरलता, स्पष्टता, ऋजुता और बुद्धिमत्ता आदि गुण प्रिय हों, उसे चाहिए कि वह अपने दिमाग से सभी महत्त्वाकांक्षाओं को निकाल फेंके और एक ऐसे परिवेश का निर्माण करे जिसमें किसी प्रकार का भय न हो। परम्परा का भय, समाज का भय, पति अथवा पत्नी का भय, पड़ोसियों का भय, मृत्यु का भय, नौकरी जाने का भय—इन सबसे आज का जीवन आक्रान्त है, सब-के-सब किसी-न-किसी भय से भयभीत हैं। इस कारण संसार से मानों बुद्धि का लोप हो चला है। जीवन में सुख की उपलब्धि उन्हें होती है जो एक ऐसे परिवेश में जीवन-यापन करते है जिसमें भय की जगह स्वतंत्रता का वातावरण होता है। यह स्वतंत्रता स्वेच्छानुकूल आचरण करने की स्वतंत्रता नहीं होती, अपितु जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने की स्वतंत्रता होती है।

आचार्य रजनीश जीवन को कुरूप नहीं मानते। इसके असाधारण सौन्दर्य और इसकी गहराइयों का एहसास आपको तभी हो सकता है जब आप धार्मिक संस्थाओं, रूढ़ियों और आज के सड़े-गले समाज के बन्धनों से मुक्त हो जायें और मनुष्य के रूप में इस बात का पता लगाएँ कि सत्य क्या है। खोजना, पता लगाना ही शिक्षा का लक्ष्य है, न कि अनुकरण करना। समाज, माता-पिता और शिक्षक के आदेशों के अनुसार आचरण करना अत्यन्त सरल है। जीने का इससे आसान तरीका और क्या हो सकता है? परन्तु आचार्यजी के मतानुसार ऐसे जीवन को जीवन नहीं कहते। जीवन तो वह है जिसमें किसी प्रकार का भय न हो, जिसमें ह्रास और मृत्यु का आतंक न व्यापे। जीता वह है जो इस तथ्य का अन्वेषण करता है कि जीवन क्या है और ऐसे अन्वेषण में कोई तभी प्रवृत्त होता है जब उसके जीवन में स्वतंत्रता होती है।

परतंत्रता में बड़ी सुरक्षा है, स्वतंत्रता में बड़ी असुरक्षा।

विचार विद्रोह है और जिसके जीवन में विचार का जन्म हो जाता है वह परतंत्र नहीं रह सकता।

अँधेरे से लड़ना नहीं है, प्रकाश को जलाना है।

जीवन एक सामना है और हम एक साक्षी हैं।

जहाँ शब्द है वहीं दीवार है, जहाँ शून्य है वहीं द्वार है।

जीवन का सत्य भीतर है; स्वयं को जानना सत्य के जानने की दिशा में अनिवार्य चरण है।

सोचने-विचारने का अर्थ है असत्य को असत्य के रूप में देखना-परखना।

सुरक्षित जीवन, सामान्यतः, अनुकृति और भय का जीवन होता है। किन्तु शिक्षा का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति को निर्भीक बनने और स्वतंत्र रहने में सहायता देना है। भयरहित वातावरण का निर्माण तभी हो सकता है जब हम और हमारे शिक्षक सोचने का व्रत लें और जीवन के सत्य से विमुख न हों। ध्याना-चार्यों की तरह आचार्यजी भी इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि विरोध के तल पर सत्य और यथार्थ की खोज नहीं की जानी चाहिए। उनकी दृष्टि में धार्मिक जीवन के लिए श्रद्धा-भक्ति, मूर्ति-पूजा आदि निरर्थक हैं। महत्त्व है जीवन के सत्य का, परिपूर्ण सत्य का, न कि जीवन के किसी एक ऐसे पक्ष का जिसे भूल से परम सत्य मान लिया गया हो।

डा० रामचन्द्र प्रसाद

की प्रतिभा पूरी की पूरी जड़ और अवरुद्ध हो गई है ? वे कौन-से कारण हैं जिनसे यह हुआ है ? निश्चित ही उन कारणों को हम समझ लें तो उन्हें बदला भी जा सकता है। सिर्फ वे ही कारण कभी नहीं बदले जा सकते जिनका हमें कोई पता ही न हो। बीमारी मिटानी उतनी कठिन नहीं है जितना कठिन निदान है। एक बार ठीक से पता चल जाय कि बीमारी क्या है तो उसे मिटाने के उपाय निश्चित ही खोजे जा सकते हैं। लेकिन अगर यही पता न चले कि बीमारी क्या है और कहाँ है, तो इलाज से बीमारी ठीक तो नहीं होती, उलटे अंधे इलाज से बीमारी और बढ़ती चली जाती है। बीमारी से भी अनेकबार औषधि ज्यादा खतरनाक हो जाती है, अगर बीमारी का कोई पता न हो। बीमारी कम लोगों को मारती है, डाक्टर ज्यादा लोगों को मार डालते हैं, अगर इस बात का ठीक पता न हो कि बीमारी क्या है। और मुझे दिखायी पड़ता है कि हमें कुछ भी पता नहीं कि बीमारी क्या है, हमारे दुर्भाग्य का मूल आधार क्या है। यह तो दिखायी पड़ता है कि दुर्भाग्य घटित हो गया है और अंधकार जीवन पर छा गया है। तमाम एक उदासी, एक निराशा, एक हताशा, एक बोझिलपन है, मानों हमने सब कुछ खो दिया है और आगे कुछ भी पाने की उम्मीद भी खो दी है। वह दिखायी पड़ता है, लेकिन यह हो क्यों गया है ? बहुत-से लोग हैं जो इसका निदान करते हैं। कोई कहेगा कि पश्चिम के प्रभाव से भारत नीचे गिर गया है, चरित्र में, आशा में, आत्मा में। गलत कहते हैं वे लोग। गलत इसलिए कहते हैं कि यह बात ध्यान रहे कि जैसे पानी नीचे की तरफ बहता है वैसे ही प्रभाव भी ऊपर की तरफ नहीं बहता है, हमेशा नीचे की तरफ बहता है। अगर एक बुरे और अच्छे आदमी का मिलन होगा तो जिसकी ऊँचाई ज्यादा होगी, प्रभाव उसकी तरफ से दूसरे आदमी की तरफ बहेगा। अगर अच्छे आदमी की ऊँचाई ज्यादा होगी तो बुरा आदमी परिवर्तित हो जायगा और अगर अच्छे आदमी की सिर्फ बातचीत होगी और जीवन में कोई गहराई न होगी तो बुरा आदमी प्रभावशाली हो जायगा। प्रभाव बुरे आदमी से अच्छे आदमी की तरफ बहने शुरू हो जायेंगे।

पश्चिम से भारत प्रभावित हुआ है। इसका कारण यह नहीं है कि पश्चिम ने भारत को प्रभावित कर दिया है। इसका कारण यह है कि पश्चिम की, जिसको हम अनीति कहते हैं, वह अनीति भी हमारी नीति से ज्यादा बलवान और शक्तिशाली सिद्ध हुई है। पश्चिम की अनैतिकता की जितनी ऊँचाई है, हमारी

नैतिकता की भी उतनी ऊँचाई नहीं है। पश्चिम के भौतिकवाद की भी एक सामर्थ्य है, हमारे आध्यात्मवाद में उतनी भी सामर्थ्य नहीं है, वह उससे भी ज्यादा निर्वीर्य, नपुंसक सिद्ध हुआ है। इसलिए प्रभाव उनकी तरफ से हमारी तरफ बहता है। इसमें दोष उनका नहीं है। पहाड़ पर पानी गिरता है, लेकिन गिरा हुआ पानी भी पहाड़ से नीचे उतर जाता है, क्योंकि पहाड़ की ऊँचाई बहुत है। यह हो सकता है कि एक झील में पानी न गिरे, एक गड्ढे में पानी न गिरे, लेकिन पहाड़ पर गिरा हुआ पानी बहकर थोड़ी देर में गड्ढे में भर जायगा। गड्ढा यह कह सकता है कि पानी मुझमें भरकर मुझे भ्रष्ट कर रहा है। लेकिन गड्ढे को जानना चाहिए कि वह गड्ढा है इसलिए पानी भर रहा है। वहाँ खाली जगह है, वहाँ निचाई है इसलिए प्रभाव चारों तरफ से दौड़ते हैं और भर जाते हैं। भारत की आत्मा रिक्त और खाली है, इसलिए सारी दुनिया उसे कभी भी प्रभावित कर सकती है। जिनकी आत्माएँ भरी हैं, समृद्ध हैं, वे प्रभावित नहीं होते हैं, बल्कि प्रभावित करते हैं। यह दोष देने से कुछ भी न होगा कि पश्चिम की शिक्षा और संस्कृति हमें विकृत कर रही है। यह ऐसा ही है जैसा गड्ढा कहे कि पानी भर करह में नष्ट किया जा रहा है। गड्ढे को जानना चाहिए कि मैं गड्ढा हूँ, इसलिए पानी मेरी तरफ दौड़ता है। अगर मैं पहाड़ का शिखर होता तो पानी मेरी तरफ नहीं दौड़ सकता था। लेकिन हम गाली देकर तृप्त हो जाते हैं और सोचते हैं कि हमने कोई कारण खोज लिया। हम सोचते हैं हमने पश्चिम को दोष देकर कोई कारण खोज लिया। हम बिलकुल नहीं देख पाए कि हम गड्ढे की तरह हैं।

कुछ लोग हैं जो कहेंगे कि हजारों साल से भारत गुलाम था, इसलिए दीनहीन, दरिद्र, दुखी और पीड़ित हो गया है। वे भी गलत कहते हैं। उनकी आँखें भी बहुत गहरी नहीं हैं किसी की आत्मा को देखने के लिए। गुलामी से कोई मुल्क पतित नहीं होता है, पतित होने से मुल्क गुलाम हो जाता है। गुलामी से कोई कैसे पतित हो सकता है ? और बिना पतित हुए कोई गुलाम कैसे हो सकता है ? किसी कौम को मरने की हमेशा स्वतंत्रता है लेकिन जो लोग मरने के मुकाबले में गुलामी को चुन लेते हैं वे ही केवल गुलाम हो सकते हैं। हम मृत्यु से इतने भयभीत लोग हैं कि हम कैसा भी दीन-हीन, दलित और पैरों में पड़ा हुआ जीवन स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन मृत्यु को वरण करने की हिम्मत हमने बहुत पहले खो दी है। हम इसलिए नहीं नीचे गिर गए कि हम

हजारों साल गुलाम रहे, बल्कि हम नीचे गिरे, इसलिए हमें हजार साल गुलाम रहना पड़ा। क्या आज भी हमारी कोई ऊँचाई उठ गई है ? कोई स्वतंत्र होने से ऊंचा नहीं उठ जाता है। मात्र स्वतंत्र होने से कोई ऊपर नहीं उठ जाता। बल्कि हालत उलटी दिखाई पड़ती हैं। गुलाम हम थे तो जैसे एक गुलामी से बँधे थे और हमारे चरित्र को चारों तरफ़ दीवालें रोके हुई थीं। स्वतंत्र होकर हमारे चरित्र में और पतन आया है, ऊँचाई नहीं उठी है। जैसे स्वतंत्रता ने हमारे चरित्र में जो छिपे हुए रोग थे उन सबोंको मुक्त कर दिया है और स्वतंत्र कर दिया है। हम स्वतंत्र नहीं हुए, हमारी सारी बीमारियाँ स्वतंत्र हो गई हैं। हम स्वतंत्र नहीं हुए, हमारी सारी कमजोरियाँ स्वतंत्र हो गई हैं। हम स्वतंत्र नहीं हुए, हमारे भीतर जितने भी रोग के कीटाणु थे वे स्वतंत्र हो गए हैं और देश गुलामी की हालत से भी बदतर हालतों में पिछले बीस वर्षों में नीचे उतर गया है। कोई कहेगा कि हम दरिद्र हैं, दीन हैं इसलिए सारे दोष, उदासी, थकावट, बेचैनी, घबराहट, अनैतिकता, यह सब हैं। लेकिन नहीं, इस बात को भी मैं मानने को राजी नहीं हूँ। सच्चाई फिर भी उलटी है। सच्चाई यह नहीं है कि हम गरीब हैं इसलिए हम चरित्रहीन हैं। हम चरित्र-हीन हैं इसलिए हम गरीब है। चरित्र समृद्धि लाता है, चरित्र श्रम लाता है। चरित्र ही संकल्प पैदा करता है, चरित्र कुछ करने की हिम्मत और बल देता है। वह बल हमारे भीतर नहीं है, इसलिए हम दरिद्र हैं, इसलिए हम दीन हैं।

ऊपर से दिखाई पड़ने वाले जो कारण हैं, वे कोई कारण नहीं हैं। और भारत के सारे नेता, सारे धर्मगुरु और वे सारे हकीम, जो नीम हकीम ही हैं, इन्हीं ऊपर से दिखाई देनेवाले कारणों पर अटके हुए हैं और इसलिए वे कोई भी फर्क नहीं ला सकते।

मैं एक छोटी-सी घटना से अपनी बात शुरू करना चाहता हूँ कि क्या है दुर्भाग्य का मूल आधार। स्वामी रामतीर्थ जापान गए हुए थे। वे जापान के सम्राट् के महल का बगीचा देखने गए। उस बगीचे में उन्होंने एक बड़ी अद्भुत बात देखी। वे बहुत हैरान हुए। चिनार के वृक्ष थे, जिन्हें आकाश में सौ-डेढ़ सौ फुट तक उठ जाना चाहिए था किन्तु वे केवल एक-एक बीते के, एक-एक बालिश्त के थे। उनकी उम्र डेढ़-डेढ़, दो-दो सौ वर्ष थी। रामतीर्थ बहुत हैरान हुए कि दो सौ वर्षों का चिनार का वृक्ष और एक बालिश्त, एक बीता की ऊँचाई ! यह कैसे संभव हुआ ? उनकी समझ में कुछ भी नहीं आ

सका। जो माली उन्हें दिखा रहा था वह हँसने लगा। उसने कहा—मालूम होता है आपको वृक्षों के संबंध में कुछ भी पता नहीं। रामतीर्थ ने कहा कि मैं हैरान हूँ कि ये वृक्ष डेढ़ सौ वर्ष के हैं। इन्हें तो आकाश छू लेना था, पर ये केवल एक बालिश्त के कैसे हैं ? किस तरकीब से ? उस माली ने कहा, "आप वृक्ष को देखते हैं, माली जड़ों को देखता है।" उसने एक गमले को उठाकर बताया। उसने कहा, "हम इस वृक्ष की जड़ों को नीचे नहीं बढ़ने देते हैं। उन्हें नीचे से काटते चले जाते हैं। जड़ें नीचे छोटी रह जाती हैं तो वृक्ष ऊपर नहीं उठ सकता है। आकाश में उठने के लिए पाताल तक जड़ों का जाना बहुत जरूरी है। जड़ें जितनी गहरी जाती हैं, उतना ही वृक्ष ऊपर उठता है। वृक्ष के प्राण ऊपर उठते हुए वृक्ष में नहीं होते। वृक्ष के मूलप्राण होते हैं उन जड़ों में जो दिखाई भी नहीं पड़तीं। हम जड़ों को काटते रहते हैं। नीचे जड़ें छोटी रखते हैं तो वृक्ष ऊपर नहीं बढ़ पाता। वृक्ष ऊपर कभी नहीं बढ़ सकेगा। वृक्ष के प्राण जड़ों में होते हैं।"

किसी जाति के प्राण कहाँ होते हैं, कभी आपने सोचा है ? कोई जाति अगर बौनी रह जाय, कोई जाति अगर ठिगनी रह जाय आत्मा के जगत में, चरित्र के जगत में, तो उसके प्राण कहाँ हैं, उसकी जड़ें कहाँ हैं ? यह पूछना जरूरी है क्योंकि जड़ें जरूर कहीं नीचे से काट दी गई हैं या काटी जा रही हैं और इसलिए व्यक्तित्व ऊपर नहीं प्रकट हो पा रहा है। हम ऊपर से पूरे वृक्ष को भी काट दें तो कुछ नुकसान नहीं हो पायगा; अगर जड़ें साबित हों तो नया वृ ा फिर पैदा हो जायगा। लेकिन जड़ें हम नीचे से काट दें, वृक्ष पूरा का पूरा साबित हो तो भी मर जायगा। एक-दो दिन में वृक्ष कुम्हला जायगा और शाखाएँ ढल जायेंगी और मृत्यु पास आने लगेगी। वृक्ष के प्राण होते हैं जड़ों में। जाति के प्राण कहाँ होते हैं, राष्ट्रों के प्राण कहाँ होते हैं ? कभी सोचा है कि कहाँ होते हैं प्राण ? जहाँ प्राण होते हैं वहीं से बीमारियाँ उठती हैं और फैलती हैं। जड़ें दिखाई नहीं पड़तीं, वृक्ष दिखाई पड़ता है। किसी जाति, किसी देश, किसी समाज की जड़ें भी दिखाई नहीं पड़तीं। मनुष्य के जीवन में ऐसी कौन-सी बात है जो दिखाई नहीं पड़ती ? शायद आपने कभी उस तरफ खोजबीन ही न की हो।

अगर हम मनुष्य के व्यक्तित्व को खोजें तो दो बातें दिखाई पड़ेंगी। आचरण दिखाई पड़ता है, व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है। विचार दिखाई नहीं

पड़ते, विचार अदृश्य हैं। आचरण की जड़ें विचार में होती हैं और अगर विचार की जड़ों को व्यवस्था से काट दिया गया हो तो आचरण अपने आप पंगु हो जायगा, आगे न बढ़ सकेगा। भारत के विचार की जड़ें काटी गई हैं। और जिन्हें हम अच्छे और भले लोग कहते हैं और जिनके चरण पकड़कर हम सोचते हैं कि जगत का उद्धार और जीवन सफल हो जायगा उन्हीं लोगों ने विचार की जड़ें काट दी हैं। विचार के तल पर भारत ने आत्मघात कर लिया है और इसलिए आचरण के तलपर वृक्ष सूखता चला गया और जीवन के तलपर हम उदास, थके हुए और हारे हुए होते चले गए।

मैं ऐसी तीन जड़ों की बातें आज करना चाहता हूँ जो विचार के तल पर भारत के दुर्भाग्य के मूल आधार हैं और यह कह देना चाहता हूँ कि जबतक उन तीन जड़ों को हम नहीं बदल देते हैं तबतक भारत कभी भी दुर्भाग्य से मुक्त नहीं हो सकता। आज नहीं, हजारों साल तक भी मुक्त नहीं हो सकता। लाख उपाय कर लें हम ऊपर-ऊपर वृक्ष को सम्हालने के, पर हमारे सब उपाय थोथी सजावट साबित होंगे। वृक्ष में प्राण नहीं आ सकेंगे, जीवन सजीव नहीं हो सकेगा, प्रतिमा जाग नहीं सकेगी। शायद मेरी बात अजीब लगेगी क्योंकि वह जो नहीं दिखाई पड़ता है, उस संबंध में बात करना थोड़ी मुश्किल होती है।

भारत के विचार के केन्द्रों में आज तक समय की जो भारतीय धारणा (Concept of Time) है वह गलत है। इस समय की गलत धारणा के कारण हमारे जीवन का इतना अहित हुआ है जिसका हिसाब लगाना मुश्किल है। हमारी समय की धारणा क्या है? हमारा टाइम कंसेप्ट क्या है?' भारत के समय की धारणा ऐसी है जैसे सूरज निकलता है, साँझ डूब जाता है, फिर दूसरे दिन सूरज निकलता है, फिर साँझ डूब जाता है, एक वृत्त, एक चक्र में सूरज घूमता है। भारत को पहले यह अनुभव हुआ कि सूरज एक चक्र में घूमता है; जहाँ से निकलता है फिर वापस वहीं लौट जाता है। एक आवर्तित चक्र, एक वृत्ताकार परिभ्रमण है। वर्षा आती है, फिर दूसरी ऋतु आती है, फिर तीसरी ऋतु आती है, फिर वर्षा आ जाती है। ऋतुएँ भी एक परिभ्रमण करती हैं, एक चक्र में घूमती हैं। आदमी पैदा होता है, बच्चा, जवान, बूढ़ा फिर मौत, फिर बचपन, फिर जवानी, फिर मौत! जीवन भी एक चक्र में घूमता है। जीवन के इस चक्रीय अनुभव के आधार पर भारत ने यह सोचा कि

सका। जो माली उन्हें दिखा रहा था वह हँसने लगा। उसने कहा—मालूम होता है आपको वृक्षों के संबंध में कुछ भी पता नहीं। रामतीर्थ ने कहा कि मैं हैरान हूँ कि ये वृक्ष डेढ़ सौ वर्ष के हैं। इन्हें तो आकाश छू लेना था, पर ये केवल एक बालिश्त के कैसे हैं? किस तरकीब से? उस माली ने कहा, "आप वृक्ष को देखते हैं, माली जड़ों को देखता है।" उसने एक गमले को उठाकर बताया। उसने कहा, "हम इस वृक्ष की जड़ों को नीचे नहीं बढ़ने देते हैं। उन्हें नीचे से काटते चले जाते हैं। जड़ें नीचे छोटी रह जाती हैं तो वृक्ष ऊपर नही उठ सकता है। आकाश में उठने के लिए पाताल तक जड़ों का जाना बहुत जरूरी है। जड़ें जितनी गहरी जाती हैं, उतना ही वृक्ष ऊपर उठता है। वृक्ष के प्राण ऊपर उठते हुए वृक्ष में नहीं होते। वृक्ष के मूलप्राण होते हैं उन जड़ों में जो दिखाई भी नहीं पड़तीं। हम जड़ों को काटते रहते हैं। नीचे जड़ें छोटी रखते हैं तो वृक्ष ऊपर नहीं बढ़ पाता। वृक्ष ऊपर कभी नहीं बढ़ सकेगा। वृक्ष के प्राण जड़ों में होते हैं।"

किसी जाति के प्राण कहाँ होते हैं, कभी आपने सोचा है? कोई जाति अगर बौनी रह जाय, कोई जाति अगर ठिगनी रह जाय आत्मा के जगत में, चरित्र के जगत में, तो उसके प्राण कहाँ हैं, उसकी जड़ें कहाँ हैं? यह पूछना जरूरी है क्योंकि जड़ें जरूर कहीं नीचे से काट दी गई हैं या काटी जा रही हैं और इसलिए व्यक्तित्व ऊपर नहीं प्रकट हो पा रहा है। हम ऊपर से पूरे वृक्ष को भी काट दें तो कुछ नुकसान नहीं हो पायगा; अगर जड़ें साबित हों तो नया वृ ा फिर पैदा हो जायगा। लेकिन जड़ें हम नीचे से काट दें, वृक्ष पूरा का पूरा साबित हो तो भी मर जायगा। एक-दो दिन में वृक्ष कुम्हला जायगा और शाखाएँ ढल जायँगी और मृत्यु पास आने लगेगी। वृक्ष के प्राण होते हैं जड़ों में। जाति के प्राण कहाँ होते हैं, राष्ट्रों के प्राण कहाँ होते हैं? कभी सोचा है कि कहाँ होते हैं प्राण? जहाँ प्राण होते हैं वहीं से बीमारियाँ उठती हैं और फैलती हैं। जड़ें दिखाई नहीं पड़तीं, वृक्ष दिखाई पड़ता है। किसी जाति, किसी देश, किसी समाज की जड़ें भी दिखाई नहीं पड़तीं। मनुष्य के जीवन में ऐसी कौन-सी बात है जो दिखाई नहीं पड़ती? शायद आपने कभी उस तरफ खोजबीन ही न की हो।

अगर हम मनुष्य के व्यक्तित्व को खोजें तो दो बातें दिखाई पड़ेंगी। आचरण दिखाई पड़ता है, व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है। विचार दिखाई नहीं

समय भी एक चक्र में घूमता है। जो समय बीत गया वह फिर आ जायगा। समय एक वृत्त में घूमता है बार-बार। जैसे हम एक चक्के को घुमाएँ तो जो स्पोक अभी ऊपर है वह थोड़ी देर बाद नीचे चला जायगा, फिर ऊपर आयगा, फिर नीचे जायगा, फिर ऊपर आयगा। समय एक चक्र में घूमता है, ऐसी भारत ने धारणा बनाई। इस धारणा ने भारत के प्राण ले लिये। यह बुनियादी रूप से गलत है। समय चक्र की तरह नहीं घूमता है, समय एक सीधी रेखा में जाता है और वापस कभी नहीं लौटता। जो हो गया, वह फिर कभी नहीं होगा। समय एक सीधी यात्रा है जिसमें लौटने का कोई भी उपाय नहीं है। समय परिभ्रमण नहीं कर रहा है। आप कहेंगे कि समय की धारणा से भारत के दुर्भाग्य का क्या सम्बन्ध हो सकता है? गहरा सम्बन्ध है। सोचेंगे तो दिखाई पड़ेगा। जो कौम ऐसा सोचती है कि समय एक चक्कर में परिभ्रमण कर रहा है उस कौम का पुरुषार्थ नष्ट हो जायगा। उस कौम को कुछ करने-जैसा है—यह धारणा भी नष्ट हो जायगी। चीजें अपने आप घूमकर अपनी जगह आ जाती हैं और घूमती रहती हैं। हमें कुछ भी नहीं करना है। नई चीजें होती ही नहीं, पुरानी चीजें बार-बार घूमती रहती हैं। कलियुग है, फिर आयगा सतयुग, फिर आयगा कलियुग और ऐसे ही घूमता रहेगा। चौबीस तीर्थंकर होंगे, फिर पहला तीर्थंकर होगा, फिर २४ तीर्थंकर होंगे, फिर पहला तीर्थंकर होगा। कल्प घूमता रहेगा चक्के की तरह। जो हो चुका है वह हजारों बार हो चुका है और आगे भी हजारों बार होगा। आपके करने और न करने का सवाल नहीं है, समय के चक्कर पर आप घूम रहे हैं।

जब एक मुल्क के प्राणों में यह धारणा बैठ गई कि हमारे करने से कुछ होने वाला नहीं है। सूरज निकलता है, डूब जाता है; वर्षा आती है, निकल जाती है। गरमी आती है, फिर वर्षा आती है, फिर गरमी आती है। यह चक्र में घूमता रहता है समय। हमारे करने-जैसा कुछ भी नहीं है। हम दर्शक की भाँति हैं, घूमते हुए समय को देखने वाले लोग। समय की इस परिभ्रमण की धारणा ने भारत को दर्शक बना दिया, भोक्ता नहीं, कर्त्ता नहीं। दर्शकों की क्या स्थिति हो सकती है जीवन के मार्ग पर? जिन्दगी कोई तमाशबीनी नहीं है कि कोई तमाशे की तरह हम देख रहे हैं कहीं खड़े होकर। जिन्दगी जीनी पड़ती है लेकिन जीने की धारणा तभी पैदा होती है जब हमें यह विश्वास हो कि कुछ नया पैदा किया जा सकता है जो कभी नहीं था। हम नए को निर्माण कर

सकते है, हमारे हाथ में है भविष्य। भविष्य पहले से निर्धारित नहीं है, निर्धारित होना है, और हम निर्धारित करेंगे। हमें निर्धारित करना है भविष्य को। आने वाला कल हमारा निर्माण होगा, किसी अनिवार्य इतिहास चक्र (Wheel of History) का घूम जाना नही। लेकिन भारत दस हजार वर्षों से इस बात को माने बैठा है कि इतिहास का चक्र घूम रहा है। सारी दुनियाँ में इतिहास की किताबें है, भारत के पास इतिहास की कोई किताब नही है। क्यों ? क्योंकि जो चीज बार-बार घूमकर होनी है उसका इतिहास भी क्या लिखना। भारत के पास कोई इतिहास नही है। पश्चिम ने इतिहास लिखा क्योंकि उनकी दृष्टि यह है कि जो भी एक घटना एक बार घट गई है अब कभी पुनः नही दोहरेगी। उसे स्मरण रख लेना जरूरी है, उसका इतिहास होना जरूरी है। अब वह कभी भी वापस होने को नही। एक-एक घटना ऐतिहासिक है क्योंकि वह अकेली और अनूठी है। इसलिए पश्चिम ने इतिहास लिखा। अपने इतिहास मे एक-एक मिनट और एक-एक घडी का उन्होंने हिसाब रखा। हमारा कोई इतिहास नही है। हम यह भी नही बता सकते कि राम कब हुए, हम यह भी निश्चित रूप से नही कह सकते कि राम हुए भी या नही हुए। हमें हिसाब रखने की कोई जरूरत नही पड़ी क्योंकि राम हर कल्प मे होते है, करोड़ों बार हो चुके है, अरबों बार हो चुके है, अरबों बार फिर भी होंगे। यह राम की कथा बहुत बार होती रहेगी। इसको याद रखने की क्या जरूरत है !

इतिहास हमने नही निर्माण किया, यह आकस्मिक नही है। ऐसा नही था कि हमे लिखना नही आता था। दुनियाँ में सबसे पहले लिखने की ईजाद हमने कर ली थी। ऐसा भी नही है कि हम में सुनिश्चित धारणा नही थी चीजों को लिखने की। जो हमने लिखना चाहा है वह हमने बहुत सुनिश्चित लिखा है, लेकिन हमें इतिहास लिखने का खयाल ही पैदा नही हुआ, क्योंकि जो चीज बार-बार दोहरती है उसे स्मरण रखने की जरूरत क्या है ? वह तो दोहरती रहेगी। इसलिए हमने इतिहास नही लिखा और जब हमे यह खयाल हो गया कि हर चीज पुनरुक्त है तो जीवन मे सारा रस चला गया। जीवन मे रस होता है तब, जब हर चीज नई हो। जब हर चीज पुनरुक्त हो तो जीवन नीरस हो गया, जीवन एक उदासी, एक ऊब हो गया। हमने सोचा कि यह होता रहा है, यह होता रहेगा। यह चलता रहा है, यह चलता रहेगा। इसमें कुछ कम नही किया जा सकता है। नए की कोई संभावना नही है। हम यह कहते रहे कि आकाश

के नीचे सब पुराना है, नया कुछ भी नहीं हो सकता। जबकि सच्चाई उल्टी है। आकाश के नीचे सब नया है, पुराना कुछ भी नहीं। कल जो सूरज उगा था वह सूरज भी आज वही नहीं है जो कल था। कल जिस गंगा के किनारे आप गए थे वह गंगा आज वही नहीं है। बहुत पानी बह चुका है, नई गंगा वहाँ बह रही है, सिर्फ आँखों का भ्रम है इसलिए लगता है कि वही गंगा है। आप जो कल थे वह आज नहीं हैं। जिन्दगी रोज नई है, और अगर जिन्दगी रोज नई है तो जिन्दगी में रस आ सकता है। जिन्दगी अगर वही है पुरानी की पुरानी तो जिन्दगी में रस नहीं हो सकता। भारत विरस हो गया है, निराश हो गया है, समय की इस धारणा के कारण। और जिन्दगी नई हो ही नहीं सकती तो फिर हमारे पास करने को कुछ भी नहीं बचता है। एक अनिवार्य चक्र है जो घूम रहा है। हमें करने को क्या है? जब हमें करने को कुछ भी नहीं है तो धीरे-धीरे करने की जो सामर्थ्य थी, वह सो गई और समाप्त हो गई। अगर एक आदमी को यह पता चल जाय कि मुझे चलने की कोई जरूरत नहीं है तो क्या आप समझते हैं कि दो-चार पाँच साल वह नहीं चले तो उसकी चलने की क्षमता बचेगी? उसकी चलने की क्षमता खो जायगी। उसके पैर चलने का काम ही भूल जायँगे। एक आदमी दो-चार पाँच साल देखना बन्द कर दे तो आँखें शून्य हो जायँगी, देखने की क्षमता विलीन हो जायगी। हम जिस अंग का उपयोग करते हैं वही अंग विकसित होता है। हमने पुरुषार्थ का उपयोग नहीं किया तो पुरुषार्थ विकसित नहीं हुआ। इसीलिए हम दरिद्र हैं और दरिद्र रहेंगे और किसी भी दिन गुलाम हो सकते हैं, क्योंकि जिस मुल्क के भाव में पुरुषार्थ की भावना नहीं है उस मुल्क का सौभाग्य उदय नहीं हो सकता है। (समय की इस धारणा ने हमें भाग्यवादी (Fatalist) बनाया। इसलिए अगर गुलामी आई तो हमने कहा, यह भाग्य है। अगर उम्र हमारी कम हो गई और हमारे बच्चे कम उम्र में मरे तो हमने कहा यह भाग्य है। हमने प्रत्येक चीज की एक व्याख्या खोज ली कि यह भाग्य है, इसमें कुछ किया नहीं जा सकता है। भाग्य का मतलब क्या है? भाग्य का मतलब है एक ऐसी घटना जिसमें हम कुछ भी नहीं कर सकते। भाग्य का और कोई मतलब नहीं है। भाग्य का मतलब है कि करने से हम छुटकारा चाहते हैं। ऐसा हुआ, ऐसा होना था, ऐसा होगा। फिर हम कहीं पड़े रह जाते हैं)

इस समय की चक्रीय दृष्टि ने हमें भाग्यवादी बना दिया है। भाग्यवादी

कोई भी देश कभी समृद्ध नहीं हो सकता है। समृद्धि के लिए चाहिए श्रम, समृद्धि के लिए चाहिए संघर्ष। समृद्धि के लिए चाहिए नया आकाश, नया मार्ग, नया शिखर छूने की कामना, कल्पना, सपने। वे सब हम से छिन गए। जो हो रहा है उसे सह लेना है। कुछ करने को हमारे सामने नहीं रह गया। इसलिए जब देश गुलाम हुआ तो हमने कहा कि ऐसा ही भाग्य है। बिहार में भूकम्प हुआ तो गाँधी-जैसे अच्छे आदमी ने यह कहा था कि बिहार के लोगों के पापों का फल है। गाँधी के भीतर से भारत की वही पुरानी मूढ़ता हजारों साल की बोल रही थी। गांधी को खयाल भी नहीं कि हम यह क्या कह रहे हैं। बिहार के लोग भूकम्प में भूखों मरते हैं तो यह उनके पापों का फल है! मतलब इस सम्बन्ध में हमें कुछ करने को न रहा। वह अपने पाप का फल भोग रहा है और पापों का फल भोगना पड़ेगा। हम इसमें क्या कर सकते हैं? अभी गुजरात में बाढ़ आई और लोग बह गए और मर गए। उनके पापों का फल है! हम क्या कर सकते हैं? अपने-अपने पाप का फल तो भोगना ही पड़ता है। एक निराश चिंतन जीवन के बाबत खड़ा हो गया। हम जीवन को बदल नहीं सकते जैसा हम चाहते हैं। जैसा हम चाहते हैं पृथ्वी हो, वैसी पृथ्वी हम बना नहीं सकते, यह हमारी सामर्थ्य के बाहर है। एक बार जब देश ने यह धारणा भीतर ग्रहण कर ली तो देश की आत्मा सो गई, प्रतिभा खो गई, सामर्थ्य नष्ट हो गई। यह विचार काम कर रहा है हमारे जीवन को नष्ट करने में। साथ ही इसके कुछ और फल हुए। जो कौम यह मानती है कि आगे भी वही पुनरुक्त होगा जो पहले हो चुका है तो उसकी आँखें पीछे लग जाती हैं, आगे नहीं। उसकी दृष्टि अतीतोन्मुखी हो जाती है, वह पीछे की तरफ देखना शुरू कर देती है। क्योंकि जो पीछे हुआ है वही आगे भी होने वाला है। तो भविष्य को जानने का एक ही रास्ता है कि हम अतीत को जान लें क्योंकि वही पुनरुक्त होगा, वही दोहरेगा।

पूरे भारत की आँख अतीत पर लग गई जो अब है ही नहीं, जो जा चुका है। यह वैसा ही है जैसे हम कार की हेड लाइट पीछे की तरफ लगा दें। कार आगे की तरफ चले और लाइट पीछे की तरफ हो तो दुर्घटना सुनिश्चित है। दुर्घटना होने ही वाली है क्योंकि कार चलेगी आगे की तरफ और प्रकाश उसका पड़ेगा पीछे की तरफ। जिस रास्ते से कोई सम्बन्ध नहीं उसपर प्रकाश पड़ेगा और जिस रास्ते से आगे सम्बन्ध है वह अंधकारपूर्ण होगा।

भारत की आँखें, राष्ट्र की आँखें सामने की तरफ नहीं हैं, पीछे की तरफ हैं। हम विचार करते हैं राम का, हम विचार करते हैं महावीर का, बुद्ध का। हम कभी विचार नहीं करते आने वाले भविष्य का, आने वाले बच्चों का। न राम इतने महत्त्वपूर्ण हैं, न बुद्ध, न महावीर जितना आने वाले कल पैदा होने वाला बच्चा है। घर-घर में पैदा होने वाला साधारण-सा बच्चा भी पुराने आदमियों से, सारे अतीत से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह होने वाला है और अतीत हो चुका है, जा चुका है, समाप्त हो चुका है। लेकिन बच्चे हमारे रोज नष्ट होते चले गए क्योंकि उनपर हमारा कोई ध्यान नहीं है। ध्यान उन बूढ़ों पर है, ध्यान उन मुर्दों पर है जो व्यतीत हो चुके, बच्चों पर हमारा कोई ध्यान नहीं है। समय की ऐसी धारणा, परिभ्रमण करने वाली धारणा मनुष्य को अतीतवादी बना देती है। भविष्य-जैसी कोई चीज उसके सामने नहीं रह जाती और पूरी कौम पीछे की तरफ देखने लगती है। जो पीछे की तरफ देखने लगता है उसकी आत्मा बूढ़ी हो जाती है, यह समझ लेना जरूरी है। आपने शायद खयाल न किया हो, बच्चे हमेशा भविष्य की तरफ देखते हैं। बच्चों का कोई अतीत नहीं होता, देखेंगे भी क्या ? पीछे की तरफ देखने की कोई स्मृति नहीं होती। बूढ़े हमेशा अतीत की तरफ देखते हैं। भविष्य उनका कुछ होता नहीं। भविष्य में मौत होती है, एक दीवाल की तरह। आगे देखने में कुछ होता नहीं। भविष्य यानी शून्य। भराव होता है अतीत का। बूढ़ा हमेशा बैठकर स्मृति करता है कि ऐसा था बचपन, ऐसी थी जवानी, ऐसे थे दिन, इस भाव घी बिकता था, इस भाव गेहूँ बिकता था। वही सारी बातें सोचता है क्योंकि भविष्य कोई नहीं है उसके पास। उसके पास है केवल अतीत। वृद्ध मन का लक्षण है अतीत का चिन्तन। बूढ़ा अतीत का चिन्तन करने लगता है। बाल मन का लक्षण है भविष्य, और युवा मन का लक्षण है वर्त्तमान। युवक जीता है वर्त्तमान में—अभी और यहाँ। न उसे भविष्य की फिक्र है, न अतीत की। न वह बच्चा है, न वह बूढ़ा है। अभी जो आनंद मिल जाय वह उसे जी लेना चाहता है। इस क्षण में जो मिल जाय वह उसे भोग लेना चाहता है। जब बच्चा था तो भविष्य था, जब बूढ़ा हो जायगा तो अतीत होगा, अभी युवा है तब वर्त्तमान है।

कौमें भी तीन तरह की होती हैं। बचपन में जो कौम होती है वह है रूस। रूस के पास कोई अतीत नहीं है। उन्होंने अतीत को छोड़ दिया है,

इन्कार कर दिया है, वह चला गया। १९१७ के पहले उनका कोई अतीत नहीं है। वह उसकी कोई बात भी नहीं उठाते। भविष्य है, और भविष्य का चिन्तन और विचार करना है और उसे निर्मित करना है। अमरीका को जवान कौम कहा जा सकता है। उसके पास न कोई अतीत है, न कोई भविष्य है। अभी इसी क्षण जी लेना है, जो है उसे भोग लेना है। भारत बूढ़ी कौम कहा जा सकता है। उसके पास न कोई भविष्य है, न कोई वर्त्तमान है, केवल अतीत है। राम की कथा है। महावीर के स्मरण हैं। वह जो बीत गया है सुखद, स्वर्ण उन सबकी हजारों स्मृतियाँ हैं। उन्हीं स्मृतियों में जीना है। मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि अतीत का इतना चिन्तन रुग्णवार्धक्य का लक्षण है और यह अतीत का चिन्तन समय की इस धारणा से पैदा हुआ है। विकासमान जाति के लिए भविष्य का चिन्तन जरूरी है। विकासमान राष्ट्र के लिए भविष्य महत्त्वपूर्ण है और भविष्य के बाबत विचार करना होगा कि क्या हो सकता है क्योंकि अतीत के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं कर सकते। जो हो गया, हो गया। अब उसे तब्दील नहीं किया जा सकता, अब उसमें कुछ भी हेर-फेर करने का उपाय नहीं है, अब उसमें एक रत्ती भर कोई फर्क करने की संभावना नहीं है। तो अगर हम अतीत को ही सदा देखते रहें तो हमारे चित्त में यह धारणा पैदा हो जायगी कि कुछ भी नहीं किया जा सकता। और जिस चीज पर हम ध्यान देते हैं, हमारी चेतना उसी के साथ तल्लीन हो जाती है और एक हो जाती है। हम जो ध्यान करते हैं, जिसका ध्यान करते हैं उसी-जैसे हो जाते हैं। अतीत को देखने वाले लोग धीरे-धीरे इस निष्कर्ष पर पहुँच जायँ तो आश्चर्य नहीं कि कुछ भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि अतीत में कुछ भी नहीं किया जा सकता है। भविष्य की तरफ देखने वाले लोग इस नतीजे पर पहुँच जायँ कि सब कुछ किया जा सकता है तो आश्चर्य नहीं क्योंकि भविष्य का मतलब यही है कि जो अभी नहीं हुआ है पर हो सकता है। हो सकने का मतलब है कि अभी हजार संभावनाएँ हैं, उनमें से कोई भी संभावना चुनी जा सकती है। भविष्य की तरफ देखने वाली जाति जवान हो जायगी, युवा हो जायगी, ताजी हो जायगी, जीने की सामर्थ्य खोज लेगी। अतीत की तरफ देखनेवाली कौम जड़ हो जायगी, बूढ़ी हो जायगी, उसके स्नायु सूख जायँगे।

समय का यह विचार बदलना होगा ताकि हम देश की प्रतिभा को भविष्योन्मुखी बना सकें, ताकि हम देश की प्रतिभा को यह भाव और दृढ़ आधार

दे सकें, कि तुम कुछ कर सकते हो। तुम्हारे हाथ में कुछ है।

दूसरा केन्द्र, दूसरी एक जड़ अद्‌भुत रूप से हमें परेशान किए रही है और हमारे प्राणों में बहुत गहरा उसका विस्तार है। वह जड़ है इस बात की कि हमने कर्मफल के सिद्धान्त की एक ऐसी धारणा स्वीकार की है कि कर्म तो करेंगे आप अभी और फल मिलेगा अगले जन्म में। इतना विलंबित फल, अजीब बात है। अभी मैं आग में हाथ डालूँगा तो अगले जन्म में जलूँगा! अभी चोरी करूँगा और अगले जन्म में फल मिलेगा! कार्य और कारण हमेशा सम्बन्धित होते हैं, उनके बीच में रत्ती भर का फासला नहीं होता। क्या बीज और वृक्ष में फासला होता है? अगर बीज और वृक्ष में रत्ती भर का फासला भी पड़ जाय तो उस बीज से वृक्ष पैदा न हो सकेगा। उनका सम्बन्ध ही टूट जायगा। बीज और वृक्ष एक ही सातत्य (continuity) के हिस्से हैं। मैं जो करता हूँ उसका फल अभी मुझसे जुड़ा हुआ है, संयुक्त है, तत्क्षण सम्बन्धित है। यह झूठी बात है कि अभी मैं करूँगा काम और फल मिलेगा अगले जन्म में। लेकिन यह धारणा हमने विकसित क्यों की और इस धारणा की वजह से हमने कितने दुःख भोगे उसका हिसाब लगाना मुश्किल है। यह धारणा इसलिए विकसित करनी पड़ी कि समाज में यह दिखलाई पड़ता था कि एक आदमी अच्छा है और दुःख भोग रहा है और एक आदमी बुरा है, बेईमान है, और सुख भोग रहा है। तब हमारे साधु-संतों और महात्माओं को बड़ी मुश्किल हुई इस बात को समझाने में कि इसका मतलब क्या है। इसके दो ही मतलब हो सकते हैं। एक मतलब तो यह हो सकता था कि बुरे काम का बुरे फल से कोई सम्बन्ध नहीं है, अच्छे काम का अच्छे फल से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक आदमी चोरी करता है और बेईमानी करता है पर इज्जत, प्रतिष्ठा और समृद्धि में जीता है और एक आदमी ईमानदारी से रहने की कोशिश करता है, सच बोलता है, और दुःख पाता है, कष्ट पाता है। इसका एक मतलब तो यह हो सकता था कि दोनों बातें सम्बन्धित नहीं हैं। आप क्या करते हैं, आपको क्या मिलेगा, यह सम्बन्धित नहीं है। यह केवल संयोगिक है। अगर यह बात कोई मुल्क मान ले तो उस मुल्क में नीति और धर्म विलीन हो जायेंगे। संत-महात्माओं की इतनी हिम्मत न थी कि इस बात को मान लें। इस बात को मानने का मतलब तो यह था कि फिर नैतिकता के लिए कोई आधार न रहा।

दूसरा विकल्प यह था कि आदमी जैसा करता है वैसा ही फल पाता है। लेकिन आँखें तो यह बताती हैं कि बेईमान सुख पा रहे हैं, ईमानदार दुःख पा रहे हैं। इससे क्या हल निकाला जाय ? तो हल यह निकाला गया कि वह बेईमान जो अभी सुख पा रहा है, पहले जन्म की ईमानदारी का फल पा रहा है और वह जो ईमानदार दुख पा रहा है वह पिछले जन्म की बेईमानी का दुख पा रहा है। फल तो हमेशा वही मिलता है जैसा कर्म है, लेकिन पिछले जन्म के कर्म सब इकट्ठे होकर फल लाते हैं। इस जन्म से हमने सम्बन्ध तोड़कर पिछले जन्म से जोड़ा ताकि व्याख्या में तकलीफ न हो। लेकिन यह व्याख्या हमें और भी बड़े गड्ढे में ले गई। मेरी अपनी समझ यह है कि इस धारणा ने कि पिछले जन्मों के विलंबित फल हमें मिलते हैं, दो कारण हमारे सामने खड़े कर दिए, दो स्थितियाँ बना दीं। एक तो यह कि बुरा काम करने के प्रति जो तीव्र विचार होना चाहिए था वह शिथिल हो गया क्योंकि अगले जन्म में फल मिलनेवाला है। पहले तो यही पक्का नहीं कि अगला जन्म होगा कि न होगा। इसे जानने का कोई प्रमाणीभूत उपाय नहीं। कोई मुर्दे लौटकर कहते नहीं कि अगला जन्म हुआ है। अगले जन्म की बात ने तथ्य को इतना कमजोर कर दिया कि आज जो मेरी जरूरत है उसको आज पूरा करूँ या अगले जन्म में होने वाले फलों का विचार करूँ। आज की जरूरत इतनी तीव्र और जरूरी है कि अगले जन्म के विचार के लिए उसे स्थगित नहीं किया जा सकता है। तो फिर जो ठीक लगे अभी करूँ, अगले जन्म का अगले जन्म में देखा जायगा। ऐसा एक स्थगन हमारे दिमाग से पैदा हो गया कि ठीक है अभी जो करना है करो, अगले जन्म में देखा जायगा। इतने दूर की बात से मनुष्य प्रभावित नहीं हो सकता। इतने दूर के फल मनुष्य के जीवन और चरित्र को गतिमान नहीं कर सकते। इतनी आकाश की और हवा की बातें मनुष्य के प्राणों के जीवन्त तथ्य नहीं बन सकतीं। इसलिए भारत का सारा चरित्र हीन हो गया क्योंकि यह दिखायी पड़ा कि अभी तो बुरा करने से अच्छा फल मालूम होता है। अगले जन्म का अगले जन्म में देखा जायगा। फिर कौन कहता है कि अगला जन्म होगा ही। फिर कौन कहता है कि इस जन्म में जब बुरा आदमी अच्छे फल भोग सकता है तो अगले जन्म में भी वह कोई न कोई तरकीब न निकाल लेगा। जब इस जन्म में तरकीब निकालनेवाले तरकीब निकाल लेते हैं तो अगले जन्म में भी निकाल ही लेंगे। फिर कौन जानता है

कि आदमी समाप्त नहीं हो जाता शरीर के साथ। इन सारी बातों ने स्थिति को बिलकुल डांवाडोल कर दिया और भारत के व्यक्तित्व को इकट्ठे शिथिल कर दिया। उसके पास कोई जीवन्त नियम न रहा जिनके आधार पर वह चरित्र को, आचरण को और जीवन को ऊँचा उठाने की चेष्टा करे।

दूसरी धारणा यह विकसित हुई कि अगर मैं पाप भी करूँ तो कुछ पुण्य करके उन पापों को रद्द किया जा सकता है। स्वाभाविक था। अगर एक-एक कर्म का फल मिलता होता तो एक कर्म के फल को दूसरे कर्म का फल रद्द नहीं कर सकता था। लेकिन हमको फल मिलना था इकट्ठा। एक जन्म भर के कर्मों का फल अगले जन्म में मिलना था तो हम पाप भी कर सकते हैं और पुण्य करके उनको रद्द भी कर सकते हैं। अन्तिम हिसाब में जोड़-बाकी में अगर पुण्य बचा जाय तो मामला खत्म हो जाता है। तो परिणाम यह हुआ कि पाप भी करते रहो एक तरफ, दूसरी तरफ पुण्य भी करते रहो। एक तरफ लाखों रुपए चूसो, शोषण करो, दूसरी तरफ दान करो, मंदिर बनाओ, तीर्थ जाओ। इधर से पाप करो, उधर से पुण्य भी करते रहो तो लाभ और हानि बराबर होती रहें और आखिर में जोड़ पुण्य का हो जाय। तो जिन्दगी भर पाप करो और बुढ़ापे में थोड़ा पुण्य करो और हिसाब ठीक कर लो अपना। इस तरह एक चालाक गणित (cunning mathematics) हमने आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में पैदा कर ली है। एक आदमी शोषण करे, इसको हमने बुरा न समझा। दान करे, इसकी हमने प्रशंसा की और हमने कभी यह न पूछा कि दान करने योग्य पैसा इकट्ठा कैसे होता है? दान करने योग्य पैसा इकट्ठा कैसे हो सकता है; उसका हमने विचार नहीं किया। दान पुण्य है, तो शोषण के पाप को दान के पुण्य से काटा जा सकता है। दान की हमने खूब प्रशंसा की है— मंदिर बनाने की, तीर्थ बनाने की, साधु-संन्यासियों को भोजन कराने की, ब्राह्मणों को भोजन कराने की, गाय-दान करने की। हजार तरह की तरकीबें हमने ईजाद कीं जिनसे हम पाप करते रहें और उनको काटने के उपाय भी कर लें।

चरित्र नीचे गिरना निश्चित था क्योंकि जो मुल्क ऐसा सोचता है कि एक पाप को पुण्य करके काटा जा सकता है वह मुल्क कभी भी पाप से मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि जबतक हमें यह खयाल न हो कि पाप को किसी पुण्य से कभी नहीं काटा जा सकता, एक कर्म को दूसरे कर्म से नहीं काटा जा सकता तबतक उस पाप के प्रति हम बचने के उपाय खोजने की कोशिश करेंगे।

इस धारणा ने हमारा जीवन ले लिया। मैं इसके सम्बन्ध में दो बातें कहना चाहता हूँ। एक बात तो यह कि कर्म विलंबित फल नहीं लाता है, कर्म इसी क्षण फल लाता है। एक आदमी अभी क्रोध करता है तो अभी क्रोध के नर्क से गुजर जाता है। एक आदमी अभी चोरी करता है तो चोरी के उपाय, अपराध, पीड़ा, डर उन सबकी पीड़ाओं से गुजर जाता है। एक आदमी अभी किसी की हत्या करता है तो हत्या करने के पहले और हत्या करने के बाद वह जिस मानसिक उत्पीड़न से, मानसिक भय से, मानसिक उत्ताप से गुजरता है वह उसकी पीड़ा से बहुत ज्यादा है जो मर गया। एक आदमी को मैं मार डालूं, उस आदमी को मरने में जितनी पीड़ा होगी उससे ज्यादा पीड़ा में से मारने के पहले और मारने के बाद मुझे गुजरना पड़ेगा। अगले जन्म की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी कि अगले जन्म में मुझे कोई मारे। नहीं, कृत्य तो अपने साथ ही फल को लिये हुए हैं। इधर मैंने कृत्य शुरू किया और उधर फल मेरे ऊपर टूटना शुरू हो गया। एक अच्छा काम आप करें, एक प्रेम का कृत्य, और उसके साथ ही उसकी सुवास, आनंद और सुगंध है। प्रेम के ही कृत्य के साथ उसके पीछे एक हवा है, शान्ति की, धन्यता की। पाप के साथ एक पश्चात्ताप है, एक पीड़ा है।

इस पुरानी धारणा की जगह भारत के मन को नई धारणा चाहिए कि प्रत्येक कर्म का फल तत्क्षण है, आगे-पीछे नहीं। इतना भी फासला नहीं है कि मैं कुछ कर सकूं। मैंने किया और करने के साथ ही फल भी उपलब्ध होना शुरू हो जाता है। मैं एक छत पर से कूद पड़ूं तो कूदने के साथ ही गिरना भी शुरू हो गया। कूदना और गिरना दो बातें नहीं हैं। कूदना उसी चीज का प्रारंभ है जिसको हम गिरना कहते हैं। मैंने क्रोध किया और क्रोध के साथ ही जलना हो गया। कर्म ही फल है, इस उद्घोषण को हमें मुल्क के प्राणों पर ठोंक देना होगा। इसलिए आगे सोच विचार का सवाल नहीं है, सोचना है तो इसी क्षण कि यह मुझे करना है या नहीं।

दूसरी बात, यह जो हमें दिखायी पड़ता है कि एक बेईमान आदमी सफल हो जाता है उस पर हमने कभी बहुत विचार नहीं किया, क्योंकि हमारी जो धारणा थी, उससे हमें व्याख्या मिल गई इसलिए हमने विचार नहीं किया। जब एक बेईमान आदमी सफल होता है तब कभी आपने खयाल किया कि बेई-मान आदमी में गुण भी होते हैं। और जब ईमानदार आदमी असफल होता

है तो आपने कभी खयाल किया कि ईमानदार आदमी में अयोग्यता भी हो सकती हैं। एक बेईमान आदमी साहसी हो सकता है और एक ईमानदार आदमी कमजोर हो सकता है, हिम्मतहीन हो सकता है, कायर हो सकता है। अगर बेईमान आदमी सफल होता है तो मैं आपसे कहता हूँ कि सफल वह अपने साहस की वजह से हुआ है, बेईमानी की वजह से नहीं और अगर ईमानदार आदमी असफल होता है तो ईमानदारी की वजह से असफल नहीं होता, असफल होता है साहस की कमी की वजह से। किसी आदमी की सफलता के बहुत कारण होते हैं। हालाँकि ईमानदार आदमी असफल होता है तो उसको भी यही बताने में मजा आता है, मैं ईमानदारी की वजह से असफल हो गया। ईमानदारी की वजह से दुनियाँ में कभी कोई असफल नहीं हुआ है और न हो सकता है और बेईमानी की वजह से न कोई दुनियाँ में कभी सफल हुआ है, और न हो सकता है। और बहुत कारण हैं। बेईमान आदमी के पास गुण भी होते हैं। वह साहसी हो सकता है, वह बुद्धिमान हो सकता है, वह संगठन की क्षमता में कुशल हो सकता है, वह भविष्य को देखने की अंतर्दृष्टि वाला हो सकता है और इन सारी चीजों से वह सफल हो जायगा। जिसको हम ईमानदार आदमी कहते हैं, हो सकता है वह सिर्फ ईमानदार हो और उसके पास अन्य कोई गुण न हों। न उसके पास साहस हो, न अंतर्दृष्टि हो, न जीवन को समझने की कोई कुशलता हो, न समझ हो, न पहल लेने की हिम्मत हो तो वह असफल हो ही जायगा। ईमानदार आदमी अपने मन में यह सोचकर बहुत संतोष, बहुत सांत्वना पायगा कि मैं इसलिए असफल हो गया कि मैं ईमानदार हूँ। इसलिए आप असफल नहीं हो गए हैं, आपकी असफलता के दूसरे कारण हैं। पर ईमानदार आदमी उस सफल आदमी की निन्दा करना चाहेगा, इस ईर्ष्यावश कि वह सफल हो गया है। उसकी निन्दा का एक ही उपाय है, यह कहना कि वह बेईमानी की वजह से सफल हो गया है। मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि जीवन के गणित में दुर्गुण कभी भी कोई समृद्धि, कोई सफलता नहीं लाते हैं, न ला सकते हैं।

एक आदमी चोरी करने जाता है, आप सिर्फ इतना ही देखते हैं कि वह चोर है। लेकिन चोर के पास जो हिम्मत है वह है आपके पास ? अपने घर में भी डर के चलते हैं आप, चोर दूसरे के घर में भी निडर चलता है। अपने घर के अँधेरे में भी आपके प्राण निकलते हैं। चोर दूसरे के घर के अँधेरे में भी

ऐसा घूमता है जैसे दिन की रोशनी हो और अपना घर हो। यह गुण चोरी से बिलकुल अलग बात है।

जापान में एक चोर था। उसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। उसको लोग मास्टर थीफ कहते थे। कहते थे वैसा चोर कभी नहीं हुआ। कला-गुरु था वह चोरों का और यहाँ तक उसकी प्रसिद्धि हो गई थी कि जिस घर में वह चोरी कर लेता था उस घर के लोग गौरव से लोगों से कहते थे कि हमारे यहाँ मास्टर थीफ ने चोरी की है, हम कोई साधारण समृद्ध नहीं हैं। उस कलागुरु की नजर भी हमारे घर की तरफ गई है। लोग उसकी प्रशंसा करते। लोग प्रतीक्षा करते थे कि वह कलागुरु कभी उनके घर की तरफ भी नजर कर ले क्योंकि जिसके घर की तरफ वह देखता वह आदमी खानदानी रईस हो जाता।

वह चोर बूढ़ा हो गया। उसके लड़के ने उससे कहा कि आप तो बूढ़े हो गए, अब मेरा क्या होगा ? मुझे कुछ सिखा दें। उस बूढ़े ने कहा—"यह बड़ा कठिन मामला है। चोरी जितनी सरल दिखाई पड़ती है उतनी सरल चीज नहीं है। बड़ा जटिल विज्ञान है। उसमें बड़े गुण चाहिए। एक सैनिक से कम हिम्मत की जरूरत नहीं, एक संत से कम शांति की जरूरत नहीं, एक ज्ञानी से कम अंतर्दृष्टि की जरूरत नहीं, तब आदमी चोर बन सकता है।" उसके लड़के ने कहा—"क्या कहते हैं ? संत, योद्धा, ज्ञानी, इनके गुण चाहिए ?" उस बूढ़े ने कहा—"इनके गुण चाहिए। कभी चोरी सफलता नहीं लाती, ये गुण सफलता लाते हैं। चोरी तो अपने आप में असफल होने को आबद्ध है। इतने बल जोड़ दें तो सफल हो सकती है।" फिर भी उस लड़के ने कहा कि कुछ मुझे सिखाइए। उसने कहा—"चल तू रात मेरे साथ।" जवान लड़का बाप के साथ अँधेरी रात में जाकर नगर के सम्राट् के महल में पहुँच गया। बाप बूढ़ा है, उसकी उम्र कोई ७० साल पार कर चुकी है। वह जाकर दीवाल की ईंटें फोड़ने लगा और लड़का खड़ा काँप रहा है। उस बूढ़े ने कहा, "काँपना बन्द कर क्योंकि यहाँ कोई साहूकारी करने नहीं आए हैं कि जो कँपते हुए भी हो जाय। यहाँ चोरी करने आए हैं। हाथ कँपा कि गए।" सत्तर वर्ष का बूढ़ा है, वह ईंटें ऐसे तोड़ रहा है जैसे कोई कारीगर मौज से अपने घर काम कर रहा हो। वह लड़का काँप रहा है कि यह दूसरे का घर है, कहीं आवाज न हो जाय, कहीं कुछ न हो जाय। और वह बूढ़ा ऐसी शांति से खोद रहा है ईंटें, जैसे अपना घर हो। उस लड़के ने कहा, 'बाबा, आपके हाथ नहीं कँपते ?" उस बूढ़े ने

कहा—"चोर तभी हुआ जा सकता है जब हम सबकी सम्पत्ति अपनी मानते हों। चोर होना बहुत मुश्किल है। चोर होना आसान नहीं है।—" उसने इंटें तोड़ ली हैं, वह भीतर चला गया है। लड़का भी काँपते हुए उसके साथ पीछे गया है लेकिन उसकी छाती इतने जोर से धड़क रही है कि उसे समझ भी नहीं आ रहा है कि ऐसा तो कभी नहीं हुआ था। उस बूढ़े ने कहा, "देखो, इतना घबराओगे तो सफलता बहुत मुश्किल है। बहुत शांत और बहुत ध्यानपूर्वक ही चोरी की जा सकती है। क्योंकि दूसरे का घर है। लोग सोए हुए हैं। तेरा तो हृदय इतनी जोर से धड़क रहा है कि उसकी धड़कन से लोग जग जायँगे। ऐसे काम चलेगा ? ऐसा धड़केगा तो चीजें गिर जायँगी। धक्का लग जायगा, सब गड़बड़ हो जायगा। इस अँधेरे में तो इतनी कुशलता से जाना है कि जरा सी आवाज न हो।" लेकिन लड़के के तो पैर काँप रहे हैं और उसको चारों तरफ लोग दिखाई पड़ रहे हैं कि खड़ा है दीवाल के पास कोई ! अब कोई जागा ! किसी को खाँसी आ गई, कोई रात में बर्रा रहा है, आवाज कर रहा है और वह घबरा रहा है। बूढ़ा लेकिन उसको भीतर ले गया। वह ताले खोलता हुआ चला गया है। वह आखिरी अन्दर के कक्ष में पहुँच गया है। उसने लड़के को कहा "तू, भीतर जा और जो चीजें तुझे पसन्द हों उन्हें लेकर बाहर आ जा। मैं बाहर खड़ा हूँ।" वह दरवाजे पर खड़ा है। लड़का भीतर गया। उसे तो कुछ दिखाई भी नहीं पड़ता, पसंद करने की बात तो बहुत दूर। उसे कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि क्या वहाँ है और क्या नहीं है। और तभी उसने देखा कि उसके बाप ने दरवाजा बन्द कर दिया, जोर से दरवाजा पीटा, चिल्लाया और भाग गया। वह लड़का कमरे के भीतर है। सारे घर के लोग जाग गए हैं और दीया तथा लालटेन लिये खोज कर रहे हैं। उस लड़के के तो प्राण बिलकुल सूख गए। उसने सोचा, यह तो बाप ने मरवा डाला। यह कैसी चोरी सिखाई, यह क्या किया पागलपन ?

अचानक जैसे ही खतरे की, स्थिति पैदा हो गई वैसे ही विचार खत्म हो गए। इतने खतरे में विचार नहीं चल सकते। विचार चलने के लिए सुविधा चाहिए। इतने खतरे हैं कि जान जाने को है, तो उसके विचार शून्य हो गए। अभी कोई आपकी छाती पर छुरा लेकर खड़ा हो जाय तो फिर मन चंचल नहीं रहेगा उस वक्त। मन के चंचल होने के लिए आराम से तकिया चाहिए, बिस्तर चाहिए, तब मन चंचल होता है। जिन्दगी खतरे में पड़ जाय

तो कहाँ की चंचलता, मन एकदम स्थिर हो जायगा। उसका मन स्थिर हो गया है और एकदम उसे कुछ अंतर्दृष्टि हुई। उसने दरवाजे को नाखून से खुरचा, जैसे कोई बिल्ली या चूहे आवाज कर रहे हों। हालाँकि उसे कुछ समझ में नहीं आया कि यह मैं क्यों कर रहा हूँ। एक नौकरानी बाहर से गुजरती थी। उसने देखने के लिए दरवाजा खोला कि भीतर शायद कोई बिल्ली है। चोर को भी वह खोज रही थी। उसने हाथ बढ़ाकर दीया हाथ में लिये भीतर झाँककर देखा। अचानक उसने सोचा नहीं था कि नौकरानी हाथ बढ़ायगी और जला हुआ दीया आगे होगा। इसका उसे कोई खयाल ही न था, कोई विचार नहीं था, कोई योजना नहीं थी, लेकिन दीया देखकर अचानक उसके मुँह से फूंक निकल गई। दीया बुझ गया, उसने धक्का दिया और अँधेरे में भागा। दस-बीस लोग उसके पीछे भागे। आज उसे जिन्दगी में पहली दफा पता चला कि इतनी तेजी से भी भागा जा सकता है। वह तीर की तरह भाग रहा था। उसे आज पहली दफा पता चला कि उसका शरीर इतना गतिवान है, जैसे तीर चल रहा हो। जब जान पर बाजी हो तो सारी शक्ति जग जाती है। वह एक कुएँ के पास से गुजर रहा था। दस-बीस कदम पीछे लोग रह गए थे और ऐसा लगता था कि वह अब पकड़ते हैं, अब पकड़ते हैं तभी उसे कुएँ के पाट पर एक पत्थर दिखाई पड़ा। उसने पत्थर उठाया और कुएँ में पटक दिया। जो लोग पीछे आ रहे थे वे कुएँ को घेर कर खड़े हो गए। उन्होंने समझा कि चोर कुएँ में कूद पड़ा है। वह एक वृक्ष के नीचे खड़ा यह सब देखता रहा। उन्होंने कहा, अब तो वह अपने हाथ से मर गया। कुआँ बहुत गहरा है, अब सुबह देखेंगे। जिन्दा रहा तो ठीक, मर गया तो ठीक। वे वापस जाकर महल में सो गए।

वह लड़का अपने घर पहुँचा, देखा पिता कम्बल ओढ़कर सोए हुए है। उसने क्रोध में कम्बल खींचा और कहा—"यह क्या मामला है? आपने मेरी जान ही ले ली थी!" उस बूढ़े ने कहा, "अब गड़बड़ मत करो, तुम आ गए, अब सुबह बातचीत करेंगे। बस आ गए, ठीक है।" लड़के ने कहा, "सुबह नहीं। हम तो एक अनुभव से गुजर गए, यह क्या किया आपने?" उसने कहा, "छोड़ो उस बात को, तुम आ गए खतम हो गई बात। कल तुम खुद भी चोरी करने जा सकते हो।"

चोर सफल होता है, चोरी की वजह से नहीं। चोर सफल होता है दूसरे

गुणों की वजह से और जब अचोर आदमी में उतने गुण होते हैं तो उसकी सफलता का क्या कहना। वह महावीर बन जाता है, बुद्ध बन जाता है। बेईमान सफल होता है बेईमानी की वजह से नहीं, और दूसरे गुणों की वजह से और जब कभी ईमानदार आदमी उन गुणों को पैदा कर लेता है तो उसकी सफलता का क्या कहना, वह सुकरात बन जाता है, वह जीसस बन जाता है। आप हैरान हो जायेंगे दुनियाँ के बुरे आदमियों की सफलता के पीछे वे ही गुण हैं जो दुनियाँ के अच्छे से अच्छे आदमियों की सफलता के पीछे थे। गुण वही हैं, सफलता के। असफलता के दुर्गुण भी समान हैं। लेकिन हमने एक झूठी व्याख्या पकड़ ली और उसके हिसाब से हमने समझा कि हमने सब मामला हल कर लिया। उसका नुकसान भारी पड़ा। सारी धारणा बदल देने की जरूरत है ताकि नीचे से जड़ बदला जाय और आदमी के व्यक्तित्व को हम नई बुनियाद दे सकें। इस सम्बन्ध में मैं तीसरा सूत्र बताकर अपनी बात पूरी करूँगा।

एक बात ध्यान रखना जरूरी है कि हमारी पूर्व कर्म की धारणा जब यह कहती है कि अभी मैं कर्म करूँगा और आगे कभी भविष्य में, कई जन्मों के बाद फल मिलेगा तो वह धारणा हमें गुलाम बना देती है क्योंकि कर्म तो अभी कर दिया गया और फल भोगने के लिए मैं बँध गया। नहीं मालूम कबतक बँधे रहना पड़ेगा उस फल से। अनन्त जन्म हो चुके हैं। अनन्त कर्म आदमी ने किए हैं। उन सबसे आदमी बँधा हुआ है क्योंकि उनका फल अभी भोगना बाकी है। अभी फल भोगा नहीं गया। तो भारत में बँधे हुए की धारणा, एक परतंत्रता की धारणा विकसित हुई कि हर आदमी परतंत्र है, आगे के लिए बँधा हुआ है, पीछे के कामों से बँधा हुआ है। भारत की प्रतिभा के भीतर स्वतंत्रता का बोध कि मैं स्वतंत्र हूँ, यह मर गया। यह मर ही जायगा। जब मैं पीछे के इतने कर्मों से बँधा हुआ हूँ, जिनके फल मुझे अभी भोगने पड़ेंगे और जिनको बदलने का कोई उपाय न रहा तो स्वाभाविक रूप से मेरी चेतना बँधी हुई है, बद्ध है, बंधन में है, यह धारणा पैदा हो गई। और फिर जहाँ इतने बंधन मेरे भीतर हैं वहाँ एकाध और कोई बंधन ऊपर से आ जाय, कोई दूसरा मुल्क हुकूमत जमा ले तो क्या फर्क पड़ता है? मैं तो बँधा ही हुआ हूँ, और थोड़ा-सा बंधन बढ़ता है तो क्या फर्क पड़ता है। हम इतने बँधे हुए मालूम होने लगे कि और नई गुलामी आ जाय तो हमें कोई तकलीफ मालूम नहीं होती। हमने भारत में गुलाम आदमी पैदा कर दिया है इस धारणा की वजह से। मैं

आपसे कहना चाहता हूँ, प्रत्येक कर्म का फल तत्क्षण मिल जाता है और फिर आप समग्ररूपेण मुक्त हो जाते हैं। कर्म भी निपट गया उसका फल भी उसके साथ निपट गया। आपकी चेतना फिर मुक्त है, आप फिर मुक्त हो गए हैं। हर घड़ी आप बाहर हो जाते हैं अपने बंधन से। बंधन जिन्दगी भर साथ नहीं ढोने पड़ते हैं। वह जो हमारी चेतना है वह हमेशा मुक्त हो जाती है। हमने काम किया, फल भोगा और हम उसके बाहर हो गए। काम के साथ ही फल निपट जाता है, इसलिए आप हमेशा स्वतंत्र हैं। मनुष्य की आत्मा मौलिक रूप से स्वतंत्र है। वह कभी बंधन में नहीं रह जाती। वह कहीं भी बँधी हुई नहीं है। मौलिक स्वतंत्रता की गरिमा एक-एक आदमी को मिलनी चाहिए, तब हम स्वतंत्रता का आदर कर सकेंगे, स्वतंत्रता के लिए लड़ सकेंगे, स्वतंत्रता को बचाने के लिए जीवन खो सकेंगे। बँधे-बँधाए लोग, बंधन में पड़े हुए लोग, जिनका चित्त इस जड़ता ने पकड़ लिया है कि हम तो बँधे ही हुए हैं, वे लोग स्वतंत्रता के साथी, स्वतंत्रता के मालिक, और स्वतंत्रता की घोषणा करनेवाली स्वतंत्र आत्माएँ नहीं हो सकते हैं। इसलिए भारत इतने दिन गुलाम रहा है। इस गुलामी में न मुसलमानों का हाथ है, न हुणों का, न तुर्कों का, न अंग्रेजों का। इस गुलामी में भारत के उन संत-महात्माओं का हाथ है जिन्होंने एक-एक आदमी की आंतरिक स्वतंत्रता को नष्ट करने की धारणा दे दी। गौरव चला गया, गरिमा चली गई। जो गरिमा एक-एक आदमी की होनी चाहिए, वह खत्म हो गई। बंधन में पड़े आदमी की कोई गरिमा होती है, कोई गौरव होता है? पैर में जंजीरें बँधी हैं, हाथ में जंजीरें बँधी है, गर्दन फाँसी पर लटकी है, ऐसे आदमी की कोई गरिमा होती है? कर्म के इस सिद्धांत ने आपके पैरों में हजारों जंजीरें डाल दी हैं, हाथों में जंजीरें डाल दी है और गर्दन फाँसी पर लटका दी है। आप चौबीस घंटे फाँसी पर लटके हैं, चौबीस घंटे बंधन में हैं। एक ही प्रार्थना कर रहे हैं कि किसी तरह मुक्ति मिल जाय, बंधन से छुटकारा हो जाय। इस तरह के आदमी की तस्वीर बहुत बेहूदी और कुरूप होती है। इस तरह के आदमी का आत्मिक सम्मान का भाव भी नष्ट हो जाता है।

तीसरा अंतिम सूत्र है। भारत ने एक तीसरी बीमारी हजारों साल से पोसी है, और वह बीमारी है अहंकेन्द्रीकरण (Egocentredness) की। यह बड़ी अजीब बात मालूम पड़ेगी। अहम् केन्द्रीकरण हो गया हमारा। हम दुनियाँ में

सबसे ज्यादा इस तरह की बात करनेवाले लोग हैं कि अहंकार छोड़ो, लेकिन हमारा पूरा जीवन-दर्शन व्यक्ति को अहम् केन्द्रित बनाने वाला है यह बड़े आश्चर्य की घटना है। भारत में इसीलिए समाज की कोई धारणा, राष्ट्र की कोई धारणा कभी भी विकसित नहीं हो सकी। भारत कभी भी राष्ट्र न था और न है और न अभी पुराने आधारों पर राष्ट्र होने की संभावना है। भारत में न कभी समाज था, न है और न आगे कोई समाज की धारणा बन सकती है। भारत की धारणा अबतक यह रही है कि एक-एक व्यक्ति के अपने कर्म हैं, अपना फल है। एक-एक व्यक्ति को अपना मोक्ष खोजना है, अपना स्वर्ग खोजना है। दूसरे व्यक्ति से लेना-देना क्या है! एक-एक व्यक्ति की आत्मा को अपनी-अपनी यात्रा पूरी करनी है। दूसरे से सम्बन्ध क्या है! इसलिए एक अंतर सम्बन्ध कभी हमारे भीतर विकसित न हो सका।

सुनी होगी वाल्मीकि की कथा। वाल्मीकि तो डाकू था, लुटेरा था। एक दफा उसने जाते हुए ऋषियों को भी रास्ते में लूटने के लिए रोक लिया। उन ऋषियों ने क्या कहा? उन ऋषियों ने कहा, "तू हमें लूटता है तो ठीक है, लूट ले, लेकिन किसके लिए लूटता है?" यह घटना थोड़ी समझ लेनी जरूरी है। उसने कहा, "अपनी पत्नी के लिए, अपने बच्चे के लिए, अपने बूढ़े बाप के लिए, अपनी माँ के लिए लूटता हूँ।" उन ऋषियों ने कहा "तू फिर एक काम कर, हमें तू बाँध दे वृक्षों से, और जाकर अपनी पत्नी, अपनी माँ, अपने बाप से पूछ आ कि लूटने से जो पाप का फल मिलेगा वे उसमें भी भागीदार होंगे कि नहीं। नर्क जायगा तू, इतनी लूट, इतनी हत्या करने से तो तेरी पत्नी, तेरे बेटे, तेरे माँ-बाप नर्क जाने के लिए तेरे साथ होंगे कि नहीं? यह तू पूछ कर आ जा।" वाल्मीकि ने उन्हें बाँध दिया और अपनी माँ से पूछने गया। माँ ने कहा कि इससे हमें क्या मतलब, तुम बेटे हो, हमें बुढ़ापे में खाना देते हो उससे मतलब है। हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं है कि तुम कहाँ जाओगे और कहाँ नहीं जाओगे, वह तुम समझो। अपने कर्म का फल, आदमी को स्वयं भोगना पड़ता है। वाल्मीकि तो बहुत चौंका। उसने अपनी पत्नी को पूछा। पत्नी ने कहा, "तुम्हारा कर्त्तव्य है, तुम मेरे पति हो, तो मेरा पालनपोषण करते हो। मुझे पता नहीं कि तुम कहाँ से पैसे लाते हो और क्या करते हो। वह तुम्हारा अपना जानना है। नर्क जाओगे तो तुम, स्वर्ग जाओगे तो तुम, मुझसे क्या लेना-देना है।" वाल्मीकि तो घबरा गया। उसको पहली दफा पता चला

कि कर्म मेरे हैं और फल मेरे हैं। किसीसे कोई मेरा सम्बन्ध नहीं है सिवा इसके कि एक मेरी पत्नी है, वह एक बाहरी सम्बन्ध है। एक मेरी माँ है वह भी एक बाहरी सम्बन्ध है। अंतर सम्बन्ध कोई भी नहीं है, जहाँ मेरे व्यक्तित्व का पूरा भार लेने को कोई तैयार हो। वह आया और ऋषियों के चरणों में गिर पड़ा और खुद भी ऋषि हो गया।

आमतौर से यह कथा यह बताने के लिए कही जाती है कि ऋषियों ने बाल्मीकि को ज्ञान दिया, पर मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि ऋषियों ने उसे अहंकेन्द्रित बना दिया। उनकी शिक्षा का जो फल हुआ वह कुल इतना कि बाल्मीकि को यह दिखायी पड़ा कि मैं अकेला हूँ और सब अकेले हैं। मुझे अपनी फिक्र करनी है, उन्हें अपनी फिक्र करनी है। हमारे बीच कोई सेतु नहीं, कोई संबध नहीं। एक-एक आदमी एक बंद खिड़की वाला मकान है। दूसरे आदमी तक न कोई खिड़की खुलती है, न कोई द्वार खुलता है, दूसरे से संबंधित होने का उपाय नहीं। तो एक अजीब धारणा पैदा हुई कि एक-एक आदमी को अपनी फिक्र करनी है। इस धारणा के अनुकूल जो समाज विकसित हुआ उसमें प्रत्येक आदमी अपनी फिक्र कर रहा है। उसमें कोई आदमी किसी दूसरे की फिक्र में नहीं है। जिस देश में हर आदमी अपनी-अपनी फिक्र कर रहा हो उस देश में सारे आदमी परेशानी में पड़ जायँ तो आश्चर्य क्या ? दूसरे का कोई मूल्य नहीं है, मेरा मूल्य है; तू का कोई भी मूल्य नहीं है क्योंकि कोई संबंध ही नहीं है। आप कहेंगे हमने तो अहिंसा की धारणा विकसित की, दान की धारणा विकसित की, सेवा की धारणा भी विकसित की। तो मैं आपको कहना चाहूँगा और आप बहुत हैरान होंगे इस बात को जानकर कि हिन्दुस्तान ने जिस अहिंसा की धारणा विकसित की, वह धारणा भी अहंकेन्द्रित ही है। हमने अहिंसा शब्द का प्रयोग किया, प्रेम शब्द का प्रयोग नहीं किया। अहिंसा का मतलब है—दूसरे की हिंसा नहीं करनी है। क्यों ? इसलिए नहीं कि हिंसा से दूसरे को दुःख पहुँचेगा बल्कि इसलिए कि हिंसा से कर्म-बंध होगा और तुमको नर्क भोगना पड़ेगा। जो जोर है वह इस बात पर नहीं है कि दूसरे दुःख पायँगे, जोर इस बात पर है कि दूसरे को दुख देने से बुरा कर्म होता है और आदमी को नर्क भोगना पड़ता है। अगर नर्क से बचना चाहते हैं तो दूसरे को दुख मत देना। दूसरे को दुख देने के पीछे भी यही धारणा है कि मैं कहीं आगे दुख में न पड़ जाऊँ। अगर हमको यह पता चल जाय कि दूसरे को दुख देने से कोई नर्क

नहीं होता तो हम तत्क्षण दूसरे को दुख देने को राजी हो जायँगे। हम कहते हैं गरीब को दान दो, इसलिए नहीं कि गरीब दुखी है, बल्कि इसलिए कि गरीब को दान देने से स्वर्ग मिलता है। हमारा जोर किस बात पर है? हमारा जोर इस बात पर है कि दान देने से स्वर्ग का रास्ता तय होता है, गरीब की गरीबी से हमें कोई मतलब नहीं। एक संन्यासी ने तो मुझे यहाँ तक कहा कि दुनियाँ में अगर गरीब मिट जायँगे तो फिर दान कैसे हो सकेंगे और अगर दान नहीं हो सका तो मोक्ष का द्वार बन्द हो जायगा क्योंकि बिना दानी हुए कोई आदमी मोक्ष नहीं पा सकता। इसलिए मोक्ष पाने के लिए दुनियाँ में गरीबों को बनाए रखना बहुत जरूरी है! किसको दान देंगे फिर आप? कौन दान लेगा आपसे? आपके स्वर्ग के रास्ते पर कुछ गरीब भिखारियों का खड़ा होना हमेशा आवश्यक है ताकि आप दान देकर स्वर्ग जा सकें! हमारे दान में दरिद्र पर दया नहीं है, हमारे दान में दरिद्र की दरिद्रता का भी शोषण है क्योंकि उसकी दरिद्रता भी आधार बनाई जा रही है अपने स्वर्ग के लिए।

एक बिलकुल ही अहम्केन्द्रित मनुष्य की चेतना हमने अबतक विकसित की है। इसलिए हमने प्रेम शब्द का उपयोग नहीं किया, क्योंकि प्रेम में दूसरा महत्त्वपूर्ण हो जाता है, अहिंसा में मैं ही महत्त्वपूर्ण हूँ। अहिंसा नकारात्मक है—हिंसा नहीं करनी है। बस, इसके आगे नहीं बढ़ना है। प्रेम कहता है हिंसा नहीं करनी है तो ठीक है लेकिन दूसरे को आनंदित भी करना है। प्रेम में दूसरा महत्त्वपूर्ण है, और अहिंसा में 'मैं' महत्त्वपूर्ण है। हमारा सारा धर्म स्व-केन्द्रित है, हमारी कौम का सारा मन अहंकार-केन्द्रित है। एक आदमी तप भी कर रहा है—धूप में खड़ा होकर, तो आप यह मत समझना कि किसी और के लिए कर रहा है। कर रहा है अपने लिए, उसे स्वर्ग जाना है, उसे मोक्ष जीतना है। मुल्क भूखा मर रहा है और एक आदमी अपने स्वर्ग जाने के उपाय कर रहा है। मुल्क दरिद्रता में सड़ रहा है और एक आदमी अपने मोक्ष की आयोजना में लगा हुआ है और हम सब इसको आदर दे रहे हैं। हम सब कह रहे हैं कि बहुत धन्य पुरुष है, मोक्ष जाने की कोशिश कर रहा है।

मैंने सुना है जापान में पहली दफा बुद्ध के ग्रंथों का अनुवाद हुआ। जिस भिक्षु ने अनुवाद करने की कोशिश की वह बहुत गरीब भिक्षु था। एक हजार

साल पहले की बात है। बुद्ध के पूरे ग्रंथों का जापानी में अनुवाद करवाने में कम से कम दस हजार रुपए का खर्च था। उस भिक्षु ने गाँव-गाँव जाकर रुपए इकट्ठा किए। वह दस हजार रुपए इकट्ठे कर ही पाया था कि उस इलाके में, जहाँ वह रहता था, अकाल पड़ गया। उसने वह दस हजार रुपए अकाल के गाँव में दे दिए। उसके साथियों ने कहा, यह तुम क्या कर रहे हो? पर वह कुछ भी नहीं बोला। उसने फिर रुपए माँगने शुरू कर दिए। फिर बेचारा दस साल में मुश्किल से दस हजार रुपए इकट्ठा कर पाया और बाढ़ आ गई। उसने फिर वह दस हजार रुपए बाढ़ में दे दिए। अब वह ७० साल का हो गया था। उनके मित्रों ने कहा, तुम पागल हो गए हो! ग्रन्थों का अनुवाद कब होगा? लेकिन वह हँसा और उसने फिर भीख माँगनी शुरू कर दी। जब वह ९० साल का था तब फिर दस हजार रुपए इकट्ठे कर पाया। संयोग की बात कि न कोई अकाल पड़ा, न कोई बाढ़ आई। तब उन ग्रंथों का अनुवाद हुआ और छपा। ग्रंथ में उसने लिखा 'तीसरा संस्करण'। दो संस्करण पहले निकल चुके, लेकिन वे अदृश्य हैं। एक उस समय निकला जब अकाल पड़ा था, एक उस समय, जब बाढ़ आई थी। अब यह तीसरा निकल रहा है। वे दो बहुत अद्भुत थे, उनके मुकाबले में यह कुछ भी नहीं है।

यह धारणा भारत में विकसित नहीं हो सकी है और जबतक विकसित न हो तबतक कोई मुल्क नैतिक नहीं हो सकता, न धार्मिक हो सकता है। भारत का धर्म भी अहंकारग्रस्त है। एक नई दृष्टि इस देश में जरूरी है कि दूसरा भी मूल्यवान है, मुझसे ज्यादा मूल्यवान। चारों तरफ जो जीवन है वह मुझसे बहुत ज्यादा मूल्यवान है और अगर उस जीवन के लिए मैं मिट भी जाऊँ तो भी मैं काम आ गया। वह जो चारों तरफ जीवन है, उस जीवन की सेवा से बड़ी कोई प्रार्थना नहीं है, उस जीवन को प्रेम देने से बड़ा कोई परमात्मा नहीं है। वह जो विराट जीवन है उस विराट जीवन के हम अंग हैं। इसकी फिक्र छोड़ दें कि 'मेरा मोक्ष', क्योंकि मेरा कोई मोक्ष नहीं होता है। जब "मैं" मिट जाता है तब आदमी मुक्त होता है और जो आदमी जितने विराटतर जीवन के चरणों में अपने 'मैं' को समर्पित कर देता है वह उतना ही मिट जाता है और मुक्त हो जाता है।

ये तीन सूत्र मैंने आपसे कहे। इनकी वजह से भारत दुर्भाग्य से भर गया है। अगर इन तीन सूत्रों पर हमारी जीवन-चिन्तना को बदला जा सके तो

कोई कारण नहीं है कि हम अपने देश की सोई हुई प्रतिभा को वापस न जगा लें, सोई हुई आत्मा फिर से न उठ जाय और हम उत्साह से भर जायँ, हम जीवन की उत्फुल्लता से भर जायँ, हम कुछ करने की तीव्र प्रेरणा से भर जायँ और भविष्य-निर्माण के सपने हमारी आँखों में निवास करने लगें। काश! यह हो सके तो भारत का सौभाग्य उदय हो सकता है।

भारत का भविष्य

एक छोटी-सी कहानी से मैं अपनी बात शुरू करना चाहता हूँ।

बहुत पुराने दिनों की घटना है। एक छोटे-से गाँव में एक बहुत संतुष्ट गरीब आदमी रहता था। वह संतुष्ट था इसलिए सुखी भी था। उसे पता भी नहीं था कि मैं गरीब हूँ। गरीबी केवल उन्हें ही पता चलती है जो असन्तुष्ट हो जाते हैं। सन्तुष्ट होने से बड़ी कोई सम्पदा नहीं है, कोई समृद्धि नहीं है। वह आदमी बहुत सन्तुष्ट था इसलिए बहुत सुखी था, बहुत समृद्ध था। लेकिन एक रात वह अचानक दरिद्र हो गया। न तो उसका घर जला, न उसकी फसल खराब हुई, न उसका दिवाला निकला। लेकिन एक रात अचानक बिना कारण

वह गरीब हो गया। आप पूछेंगे, कैसे गरीब हो गया ? उस रात एक संन्यासी उसके घर मेहमान हुआ और उस संन्यासी ने हीरों के खदानों की बात की और उसने कहा, "पागल तू कब तक खेतीबारी करता रहेगा ? पृथ्वी में हीरों की खदानें भरी पड़ी है। अपनी ताकत उन हीरों की खोज में लगाओ, तो जमीन पर सबसे बड़ा समृद्ध तू हो सकता है"। समृद्ध होने के सपने ने उसकी रात खराब कर दी। वह आज तक ठीक से सोया था। आज रात ठीक से न सो पाया। रात भर जागता रहा और सुबह उसने अपने को दरिद्र पाया, क्योंकि वह असंतुष्ट हो गया था। उसने अपनी जमीन बेच दी, अपना मकान बेच दिया। सारे पैसे को इकट्ठा कर वह हीरे की खदान की खोज को निकल पड़ा। सुनते है बारह वर्षों तक जमीन के कोने-कोने में उसने खोज की, और उसकी सम्पत्ति समाप्त हो गई। अक्सर यह होता है कि पराई सम्पत्ति की खोज में लोग अपनी सम्पत्ति गँवा बैठते हैं। वह दर-दर का भिखारी हो गया। वह सड़कों पर भीख माँगने लगा और सुनते हैं एक बड़े नगर में एक दिन भूख के कारण उसकी मृत्यु हो गई। बारह वर्ष बाद वह संन्यासी उस गाँव में फिर आया। वह उसके घर के पास पहुँचा और जाकर पूछा कि यहाँ अली हफीज नामक एक आदमी रहता था, वह कहाँ रहता है ? लोगों ने कहा, "वह तो बारह वर्ष हुए, जिस रात आपने यह घर छोड़ा उसके दूसरे दिन सुबह उसने भी घर छोड़ दिया। वह हीरों की खोज में चला गया और अभी-अभी खबर आई है कि वह भिखमंगा हो गया और भूखा एक महानगरी की सड़क पर मर गया। यह जमीन और मकान हमने खरीद लिया है। हम इसके निवासी हो गए हैं।" उस संन्यासी ने उससे पीने के लिए पानी माँगा और थोड़ी देर उस झोंपड़ी में रुका। उसने देखा कि उस झोंपड़े के आले में एक बहुत चमकदार पत्थर रखा हुआ है। उसने उस किसान से पूछा कि यह क्या है ? उसने कहा, "यह मेरे खेत पर था जो मैंने अलीहफीज से खरीदा था, वहाँ पड़ा मिल गया।" उसने कहा, "यह तो हीरा है। क्या उसी जमीन पर मिल गया है जिस जमीन को बेचकर अलीहफीज चला गया है ?" उसने कहा, "हाँ उसी जमीन पर। लेकिन यह हीरा नही है, केवल चमकदार पत्थर है और हमने बच्चों को खेलने के लिए उठा लिया है।" उस संन्यासी ने उस पत्थर को उठाया। उसकी आँखें चमक उठीं। वह हीरे को पहचानता था। उसने कहा, "चल अपने खेत पर।" वे खेत पर गए। वहाँ एक छोटा-सा नाला बहता था,

जिसपर सफेद रेत थी। उस रेत में उन्होंने खोजबीन शुरू की और साँझ होते-होते कई हीरे उनके हाथ लग गए। वह अलीहफीज की जमीन थी जो दूसरे की जमीन पर हीरे खोजने चला गया था। वही अलीहफीज की जमीन गोलकुंडा बन गई। उसी जमीन पर कोहनूर हीरा मिला और अलीहफीज, जो उस जमीन का मालिक था, एक बड़ी नगरी में भिखमंगा हो गया। वह हीरे की खोज में चला गया था, लेकिन उसे कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि जो मेरी जमीन है वहीं हीरे की खदानें भी हो सकती हैं। वहीं से कोहनूर भी निकल सकता है।

भारत के भविष्य में भी यह कहानी सार्थक होगी। या तो भारत अपनी जमीन पर हीरे खोज लेगा या दूसरे की जमीनों पर भिखमंगा होकर मर जायगा। मैं आपको यह बात भी कह दूँ कि भारत ने भिखमंगा होने की दौड़ शुरू कर दी है। भारत भिखारी की तरह दुनियाँ के सामने खड़ा हो गया है। हम भीख माँग रहे हैं और जो कौम भीख माँगने लगती है उस कौम का भीख माँगने के बजाय मर जाना बेहतर है। यह मुल्क बेशर्मी के लिए रोज तैयार होता जा रहा है और जिस कौम की शर्म मर जाती है और जिसे भीख माँगने की तरकीबें और आर्ट का पता हो जाता है उस कौम का कोई भविष्य नहीं। उसके भविष्य में कोई सूरज नहीं उगेगा और उसकी बगिया में कभी कोई फूल नहीं खिलेगा और उसके भीतर जो भी आत्मा है वह धीरे-धीरे विलुप्त हो जायगी और हम मुर्दा लोगों की तरह, मुर्दा कौम की तरह जमीन पर बोझ बनकर रह जायेंगे। हमने यह शुरुआत कर दी है। यह दुर्भाग्य की कथा प्रारम्भ हो गई है।

पहली बात तो मुझे यह कहना है कि सम्मान से मर जाना भी बेहतर है अपमानपूर्ण जीने से। देश के कोने-कोने में एक-एक आदमी से यह बात कह देने की जरूरत है कि भारत जीएगा तो सम्मान से, अन्यथा मर जायगा। हम मर जाना पसन्द करेंगे। लोग कम-से-कम यह तो कह सकेंगे कि एक कौम थी जिसने भीख नहीं माँगी, लेकिन मर गई। इतिहास में कहीं एक काली बात न लिखी जाय कि एक कौम थी जो भीख माँगकर जीना सीख गई और जीती रही। भारत का भविष्य उसके भिखमंगेपन के साथ जुड़ा हुआ है। हम क्या करेंगे, इस पर बहुत कुछ निर्भर करता है। कोई हर्ज नहीं कि बिहार के लोग भूखे मर जायँ, कोई हर्ज नहीं कि पचास करोड़ लोगों में दस-पाँच करोड़ लोग न जीएँ। वे

कब्रिस्तान में चले जायँ कोई हर्ज नहीं। लेकिन घुटने टेक कर सारी दुनियाँ से भीख माँगना अत्यन्त आत्मग्लानिपूर्ण आत्मघाती है। हम अपनी आत्मा को बेच रहे हैं। और फिर जब देश का चरित्र नीचे गिरता है और जब देश के प्राण नीचे उतरते हैं तो हम चिल्लाते हैं कि चरित्र नीचे गिर रहा है। लोग नीचे होते जा रहे हैं। लेकिन जब पूरी कौम भीख माँगने पर उतारू हो जायगी तो मनुष्य का चरित्र ऊपर नहीं उठ सकता है। पूरे मुल्क का जब कोई गौरव नहीं होगा, कोई सम्मान नहीं होगा, कोई आत्मनिष्ठा नहीं होगी तो एक-एक व्यक्ति की आत्मनिष्ठा नीचे गिर जायगी। हमें पता है हमारे मुल्क में बहुत लोग हैं जो भीख माँगते रहे हैं, लेकिन कभी उन भिखमंगों ने यह न सोचा होगा कि धीरे-धीरे पूरा मुल्क ही भीख माँगने लग जायगा। जिस आदमी को आप भीख देते हैं वह आदमी कभी आपको क्षमा नहीं कर सकेगा। ऊपर से धन्यवाद देगा, लेकिन उसके प्राणों में आपके प्रति अभिशाप ही होगा, निन्दा होगी, घृणा होगी, ईर्ष्या होगी, अपमान का भाव होगा। क्योंकि भीख लेनेवाला कभी भी यह अनुभव नहीं करता है कि मैं अपमानित नहीं किया गया हूँ। भीख लेने वाला हमेशा अपमानित अनुभव करता है और उसका बदला लेता है। भारत आज सारी दुनियाँ के सामने हाथ जोड़कर भीख माँग रहा है और इसका बदला वह ले रहा है सारी दुनियाँ से। एक तरफ भीख माँगता है और दूसरी तरफ कहता है हम जगतगुरु हैं। एक तरफ भीख माँगता है और दूसरी तरफ गाली देता है पश्चिम को—भौतिकवादी और मेटिरियलिस्ट कहता है उसको। एक तरफ भीख माँगता है, दूसरी तरफ अपने गौरव को बचाने का झूठा प्रयास करता है। भिखमंगों की यह पुरानी आदत है। भिखमंगे अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि हमारे बाप-दादा सम्राट् थे। जिनके पास कुछ भी नहीं बचता है वे फिर माँ-बाप की पुरानी कथाओं को खोजकर निकाल लेते हैं और उनका गुणगान करते हैं। जिस आदमी का वर्त्तमान नहीं होता है वही केवल अतीत की बातें करता है। और जिसका कोई भविष्य नहीं होता है वही केवल अतीत की पूजा और गुणगान में समय व्यतीत करने लगता है। हम निरंतर अतीत का ही गुणगान करते हैं।

क्या हमारा कोई भविष्य नहीं है? या हमारा कोई अभिमान नहीं है? क्या हम जी चुके और समाप्त हो गए? हमारा बीता हुआ ही क्या सब कुछ है? आगे हमारा कुछ भी नहीं है? छोटा बच्चा पैदा होता है तो उसका कोई

अतीत नहीं होता है, उसका भविष्य होता है। जवान के पास अतीत भी होता है, वर्त्तमान भी होता है और भविष्य भी होता है, लेकिन बूढ़े के पास सिवा अतीत के कुछ भी नहीं होता है; भविष्य नहीं होता, वर्त्तमान भी नहीं होता। यह कौम बूढ़ी हो गई है क्या ? इसके पास सब बीती हुई कथाएँ हैं—गौरव-गाथाएँ। इसके पास अपना कोई वर्त्तमान नहीं। भविष्य की कोई योजना, आकांक्षा और कल्पना नहीं, कोई आशा नहीं। भविष्य की अगर कोई स्पष्ट प्राणों में ऊर्जा, कल्पना और आकांक्षा न हो, भविष्य का कोई स्पष्ट सपना न हो तो देश बिखर जाते हैं, कौमें बिखर जाती हैं, खंडित हो जाती हैं। हमारे पास भविष्य की कोई योजना नहीं है, भविष्य की कोई कल्पना नहीं है, कोई सपना नहीं है। भविष्य की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं है और इधर बीस वर्षों में हमने और भी सब अस्पष्ट कर दिया है। हम दुनियाँ में तटस्थ कौम की तरह खड़े हो गए हैं और हम कहते हैं कि हम तटस्थ खड़े होनेवाले लोग हैं। लेकिन आपको पता है, जीवन में तटस्थता का कोई अर्थ नहीं होता। जीवन तो प्रतिबद्धता (Commitment) में है। जीवन है सम्मिलित होने में, किनारे पर खड़े होने में नहीं। और जो किनारे पर खड़ा होता है और कहता है कि हम तटस्थ हैं और जीवन की जो धारा है उसमें हम तटस्थ और किनारे पर खड़े हैं वह किनारे पर ही खड़ा रह जायगा। जीवन की धारा उसे छोड़कर आगे बढ़ जायगी। मेरी दृष्टि में अगर भारत तटस्थता की बातें आगे भी कहे चला जाता है तो उसका कोई भविष्य नहीं हो सकता है। अपने भविष्य के निर्माण में भारत को पक्षबद्ध होना ही चाहिए। उसके मत निश्चित, स्पष्ट होने चाहिए। जीवन की धारा से उसकी प्रतिबद्धता, उसका कमिटमेण्ट होना चाहिए। उसके सामने स्पष्ट होना चाहिए कि वह समाजवाद लाना चाहता है या लोकतंत्र। उसके सामने यह स्पष्ट होना चाहिए कि वह एक वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि विकसित करना चाहता है या नहीं। उसके सामने स्पष्ट होना चाहिए कि धर्म की क्या कल्पना और क्या रूपरेखा है भविष्य में। लेकिन धर्म को ध्यान में रखकर भारत निरपेक्ष है और राजनीति को ध्यान में रखकर तटस्थ है। समझ लें कि जीवन को ध्यान में रखकर भारत को अगर मृत होना पड़े, मर जाना पड़े तो जिम्मा किसी और को मत देना। जो मुर्दे हैं वे ही केवल निरपेक्ष और तटस्थ हो सकते हैं। जीवित व्यक्ति को निरपेक्ष होने की सुविधा नहीं है। उसे निर्णय लेने होते हैं, उसे चुनाव करना

होता है, उसे मत में बद्ध होना होता है। उसे किसी चीज को ठीक और किसी चीज को गलत कहना होता है। जो लोग चीजों के गलत और ठीक होने का निर्णय लेना छोड़ देते हैं, धीरे-धीरे जीवन का रास्ता उनके लिए नहीं रह जाता है। उनके ऊपर केवल दूसरी कौमों के पैरों की उड़ी हुई धूल ही पड़ती है और कुछ भी नहीं। उनके पैर धीरे-धीरे निकम्मे हो जाते हैं, काहिल हो जाते हैं, सुस्त हो जाते हैं। तटस्थता के भ्रम ने भारत को बहुत धक्का पहुँचाया है। स्पष्ट निर्णय लेने जरूरी हैं। अगर सड़क पर एक स्त्री की इज्जत लूटी जा रही हो और मैं कहूँ कि मैं तटस्थ हूँ, एक आदमी एक कमजोर आदमी को लूट रहा हो और मैं कहूँ कि मैं तटस्थ हूँ, मैं निरपेक्ष हूँ तो मेरी तटस्थता का क्या मतलब होगा? जब एक आदमी लूटा जा रहा है और मैं कहता हूँ, मैं तटस्थ हूँ तो मैं लूटने वाले का साथ दे रहा हूँ। जीवन में विकल्प होते हैं, तटस्थता नहीं होती है। जीवन में स्पष्ट निर्णय लेने होते हैं। सारा जगत एक बहुत बड़े संकट से गुजर रहा है, उसमें भारत कहता है, हम तटस्थ हैं, इतने बड़े संकट में, जिसके ऊपर निर्भर होगा सारे जगत का, सारे मानव का भविष्य। जिसके ऊपर निर्भर होगा कि मनुष्य बचेगा या नहीं बचेगा, उसमें भारत अगर सोचता हो कि हम तटस्थ खड़े रहेंगे तो वह गलती में है। इधर बीस वर्षों में हम कोई गति नहीं कर सके। उसका कुल कारण है कि हमारे पास कोई सुस्पष्ट जीवन-दर्शन नहीं है। हम तटस्थ हैं। तटस्थ की कोई फिलॉसफी नहीं होती, कोई जीवन-दर्शन नहीं होता। उसकी कोई प्रतिबद्धता नहीं होती। जीवन में भागीदारी और साझीदारी होने का उसका भाव नहीं रहता और वह कहता है कि हम तो किनारे खड़े रहेंगे। वह केवल देखने वाला रह जाता है—एक दर्शक मात्र। जीवन उनका है जो भोगते हैं। वसुन्धरा उनकी है जो भोगना जानते हैं। जो दर्शक की भाँति खड़े रह जाते हैं, जीवन उनके द्वार नहीं आता, और न जीवन की विजय उन्हें उपलब्ध होती है।

मैं दूसरी बात यह कहना चाहता हूँ कि भारत को एक सुस्पष्ट दर्शन की, एक सुस्पष्ट विचार की, एक सुस्पष्ट पथ की अत्यन्त आवश्यकता है। उसी विचार के इर्दगिर्द भारत की आत्मा इकट्ठी होगी। अन्यथा, भारत बिखर जायगा और बिखराव ऐसा होगा, जिसका कोई हिसाब नहीं। जब पूरे मुल्क के पास कोई जीवन-दिशा नहीं होती, कोई केन्द्रीय आत्मा नहीं होती तो उसका परिणाम यह होता है कि एक-एक प्रान्त, एक-एक जाति, एक-एक जिले की

अपनी आत्मा पैदा हो जाती है। तब हिन्दी बोलने वाले की आत्मा अलग, गुजराती बोलने वाले की आत्मा अलग, अंग्रेजी बोलने वाले की आत्मा अलग हो जाती है। तब मैसूर अलग, महाराष्ट्र अलग। कौम तब टूटती है टुकड़ों में जब कौम को इकट्ठा करने के लिए कोई जीवन-दृष्टि नहीं होती। हम चिल्लाते हैं रोज कि मुल्क को इकट्ठा होना चाहिए लेकिन क्या मुल्क इकट्ठा कोई आसमान से होता है? मुल्क इकट्ठा होता है जब मुल्क के सामने भविष्य के लिए कोई सपना होता है जिसे पूरा करना होता है। हमारे मुल्क के पास कोई सपना नहीं है, हमारी कोई प्रतिबद्धता नहीं है। हम चुपचाप राहगीरों की तरह तमाशा देख रहे हैं। दुनियाँ जी रही है, हम तमाशगीर हैं। तटस्थता का अर्थ तमाशगीर ही हो सकता है। हिन्दुस्तान के नेताओं ने पिछले बीस वर्षों में हिन्दुस्तान को कोई बड़ा मसला, कोई बड़ी समस्या, नहीं दी है। उलटी हालत हो गई है यहाँ। दुनियाँ का इतिहास यह कहता है कि नेता वह है जो कौमों को कोई बड़ा मसला, कोई बड़ी समस्याएँ दे। यहाँ हालत उलटी है। यहाँ जनता समस्या देती है। नेता उनको हल करने में लगे हैं। और जब नीचे का सामान्य जन समस्याएँ देने लगता है और ऊपर के नेता केवल उन समस्याओं को सुलझाकर काम चलाने की व्यवस्था करने लगते हैं तो मुल्क बिखर ही जायगा। बड़ा नेतृत्व उन लोगों से उपलब्ध होता है जो मुल्क को किसी जीवन्त समस्या के इर्दगिर्द इकट्ठा कर देते हैं। लेकिन हमारे पास मसला क्या है, पता है आपको? दुनियाँ हँसती होगी। गोहत्या हमारी समस्या है। आदमी मर रहा है। आदमी के बचने तक की सम्भावना नहीं है। बहुत डर है कि पूरी मनुष्यता भी नष्ट हो जाय और हमारी समस्या क्या है? गो-हत्या होनी चाहिए कि नहीं होनी चाहिए, भाषा कौन-सी बोली जानी चाहिए।

मैं एक घर में ठहरा था। उस घर में आग लग गई। घर के लोग चिल्लाने लगे। पड़ोस के लोगों को जगाया। मैंने उनसे कहा कि पहले यह तो तय कर लो कि किस भाषा में चिल्लाओगे। हिन्दी में कि अंग्रेजी में। क्योंकि अब तक एक राष्ट्रभाषा निश्चित नहीं हुई है। किस भाषा में चिल्लाओगे। जब तक यह तय नहीं, तब तक चुपचाप बैठो। मकान जलने दो। दो कौड़ी के मसले हम देश के सामने उठाकर पूरे मुल्क के प्राणों को बिखेर रहे हैं। मुल्क के सामने कोई जीवन्त समस्या, कोई बड़ा मसला नहीं है। पता होना चाहिए आपको कि जगत में केवल वे ही कौमें और वे ही राज्य और वे

ही मुल्क कुछ कर पाते हैं जिनके पास कोई जीवन्त मसला होता है, कोई बड़ी समस्या होती है। बड़ी समस्याओं के पास बड़ी आत्माएँ पैदा होती हैं। बीस साल से हम चिल्ला रहे हैं। बीस साल पहले जब आजादी नहीं मिली थी तब हमारे मुल्क ने कितने बड़े लोग पैदा किए। वे लोग किसी बड़े मसले के इर्दगिर्द पैदा हुए थे। बीस साल से आपमें कोई बड़ा मसला पैदा नहीं हुआ। बड़े लोग कैसे पैदा हो सकते हैं? आजादी की बड़ी समस्या थी, बड़ा प्रश्न था, जीवन-मरण का प्रश्न था। उसके आसपास बड़ी आत्माएँ जगीं और पैदा हुईं। जीवन तो चुनौतियों से पैदा होता है। बीस साल से कौन-सा चैलेंज है आपके सामने? यही कि मैसूर का एक जिला महाराष्ट्र में रहे कि मैसूर में। बेवकूफिओं की भी सीमाएँ होती हैं लेकिन हम उनको भी पार कर गए हैं। गो-हत्या हो कि न हो और धर्मगुरु और राजनेता और समझदार इन मसलों पर बैठ कर विचार-विमर्श करते हैं इनको हल करने का। ऐसे लोगों के दिमाग के इलाज की व्यवस्था की जानी चाहिए। ये लोग सारे मुल्क को बर्बादी के रास्ते पर ले जाते हैं, मुल्क की चेतना को गलत मार्गों पर प्रवाहित करते हैं।

एक रात मैंने एक सपना देखा। मैंने देखा कि कुछ गौवें कनवेन्ट स्कूल से पढ़कर वापस लौट रही हैं और एक ऊँट के मकान के सामने ठहर गई हैं। वह ऊँट एक बड़ा चित्रकार है और उस ऊँट ने यह खबर घोषित कर दी है कि पिकासो और पश्चिम के सब माडर्न पेन्टर्स मेरे ही शिष्य हैं। मैं जगतगुरु हूँ उन सबका। उसने घोड़े का एक चित्र बनाया है। कनवेन्ट से लौटती हुई गौवों ने सोचा, जरा हम देख लें कि इसने कौन-से घोड़े का चित्र बनाया है। वे भीतर गईं। ऊँट खड़ा मुस्करा रहा था। उसने कहा—देखो। फिर गौवों ने कहा—इसका कुछ ओर-छोर समझ में नहीं आता है। यह कैसा घोड़ा है। उसने कहा यह माडर्न पेंटिंग है। जिसका ओर-छोर समझ में आ जाय, समझना वह चित्रकला ऊँची नहीं है। जिसका कोई ओर-छोर नहीं होता है उसको कुछ थोड़े से चुने हुए लोग समझ सकते हैं। यह घोड़े का चित्र है। गौवों ने कहा—किसी तरह हम मान लें कि यह घोड़े का चित्र है? इसके कूबड़ क्यों निकले हुए हैं। उस ऊँट ने कहा—तुम्हें पता है। बिना कूबड़ के कोई कभी सुन्दर होता ही नहीं। क्योंकि परमात्मा ने सुन्दरतम प्राणी—सर्वश्रेष्ठ प्राणी—तो ऊँट ही बनाया है और ८४ लाख योनियों में भटकते जब आत्मा ऊँट की योनि में आती है तभी मोक्ष मिलने का दरवाजा खुलता है।

को पैदा करने की ओर है, एक-सा समाज पैदा करने की ओर नहीं है, लेकिन सारी दुनियाँ में इधर सौ वर्षों में इतने जोर से साम्यवाद की बात की गई है कि अब तो कोई कहने का साहस भी नहीं कर सकता कि यह बात गलत भी हो सकती है। आज रूस में यदि बुद्ध पैदा होना चाहें तो नहीं पैदा हो सकते। महावीर जन्म लेने के साथ ही मुश्किल में पड़ जायेंगे। महावीर और बुद्ध को छोड़ दें, अगर खुद मार्क्स भी पैदा होना चाहें तो रूस उसकी पैदाइश की जमीन नहीं हो सकती। अब तो अगर स्टेलिन भी पुनर्जन्म लेना चाहें तो रूस में उनको जन्म नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि रूस की या साम्यवाद की सारी धारणा व्यक्ति-विरोधी है व्यक्ति वैशिष्ट्य (Individuality) की विरोधी है। हम इकाइयाँ चाहते हैं, व्यक्ति नहीं चाहते और सभी व्यक्तियों को एक-सा कर देना है सब भाँति। निश्चित ही सभी व्यक्तियों को समान अवसर उपलब्ध होना चाहिए, लेकिन समान अवसर इसलिए नहीं कि सभी व्यक्ति समान हो जायँ, बल्कि इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति असमान और भिन्न होने की समान सुविधा उपलब्ध कर सके। हिन्दुस्तान पर भी यह दुर्भाग्य उतर रहा है धीरे-धीरे। कौन लायगा इस दुर्भाग्य को, यह बात अलग है, कम्युनिस्ट लायेंगे, या कांग्रेस लायगी, या सोशलिस्ट लायेंगे। लेकिन यह दुर्भाग्य धीरे-धीरे उतर रहा है और हम भी इस कोशिश में लगे हैं कि एक यांत्रिक, एक समष्टिवादी (collective) समाज को निर्मित कर लें। लेकिन आपको पता होना चाहिए कि रोटी के मूल्य पर हम आत्मा को बेचने की कोशिश कर रहे हैं। याद होना चाहिए कि समानता की यह जबर्दस्त कोशिश मनुष्य के जीवन से स्वतंत्रता को नष्ट करती है, व्यक्तियों की विशिष्टता को नष्ट करती है, उनके बेजोड़ (unique) होने को नष्ट करती है। सारी दुनिया में यह हो रहा है। हिन्दुस्तान में भी होगा। हम पीछे शायद ही रहेंगे। ऐसी कौन-कौन सी बीमारी है जिसमें हम पीछे रह जायँ। हम तो सबके साथ आगे होने के लिए अत्यन्त उत्सुक और आतुर हो उठते हैं। अगर भारत के भविष्य के लिए कोई कल्पना और कोई सपना हो सकता है तो वह यह कि भारत आने वाली दुनियाँ में व्यक्तिवाद का परम पोषक स्पष्ट रूप से अपने को घोषित करेगा। व्यक्तियों के विकास का अर्थ यह नहीं हो सकता कि समाज दरिद्र होगा और लोग दीन-हीन होंगे। व्यक्तियों की पूर्ण विकास की अवस्था में कोई दीन-हीन होने की जरूरत नहीं रह जाती लेकिन असमानता,

भिन्नता, वैशिष्ट्य की स्वीकृति होती है। एक ऐसा समाज चाहिए जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं होने की स्वतंत्रता हो। समाजवाद या साम्यवाद में यह स्वतंत्रता सम्भव नहीं है। वहाँ समाज होगा, व्यक्ति नहीं होंगे। व्यक्तियों की लेवलिंग की जायगी और रह जायगी एक कलेक्टिव भीड़। मनुष्य की चेतनाओं को पोंछ डालने की, उनके स्वतंत्र चिन्तन को मिटा डालने की, जो हुकूमत कहे वही दोहराने की तथा उनको मशीन बनाने की पूरी कोशिश की जा रही है। चीन में बड़े जोर का प्रयोग चल रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति में जो विशिष्ट चेतना है उसे पोंछकर कैसे अलग कर दिया जाय और पावलेव और कुछ दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने कोई यंत्र उनके हाथ में दे दिया है कि एक-एक आदमी के भीतर जो व्यक्तित्व है, जो विशिष्टता है, जो चिन्तन है, उसे पोंछ डाला जाय और एक-एक आदमी एक कुशल मशीन हो जाय। निश्चित ही तब ज्यादा रोटी मिल सकेगी, ज्यादा अच्छे मकान मिल सकेंगे, ज्यादा अच्छे कपड़े मिल सकेंगे। लेकिन किस कीमत पर? आत्मा को खोकर। एक मकान में आग लगी थी और मकान का मालिक बाहर आँसू बहा रहा था और खड़ा था। पड़ोस के लोग मकान से दौड़कर सामान निकाल रहे थे। सारा सामान निकाल लिया गया और मकान में अन्तिम लपटें पकड़ने लगीं तब लोगों ने आकर उस मकान–मालिक को कहा कि कुछ और भीतर रह गया हो तो हम देख लें जाकर, क्योंकि इसके बाद दोबारा भीतर जाना सम्भव नहीं होगा। मकान अंतिम लपटों में जल रहा है। उस मकान-मालिक ने कहा—मुझे कुछ भी याद नहीं पड़ता। मेरी स्मृति ही खो गई है। फिर तुम भीतर जाकर देख लो, कुछ बचा हो तो ले आओ। उन्होंने सब तिजोरियाँ बाहर निकाल ली थीं, मकान के सब खाते-बही कपड़े-बर्तन सब बाहर निकाल लिये थे। तभी एक आदमी भागा हुआ भीतर गया और वहाँ से छाती पीटता और रोता हुआ वापस आया। मकान-मालिक का इकलौता लड़का भीतर ही जल गया था। वह बाहर आकर रोने लगा और कहा, 'हम सामान को बचाने में लग गए और सामान का अकेला मालिक नष्ट हो गया।' क्या हम भी सामान को बचायेंगे या सामान के मालिक को बचायेंगे? क्या हम आदमी को बचायेंगे या रोजी, रोटी और कपड़े को? जरूरी नहीं है कि आदमी को बचाने में रोजी और रोटी न बचायी जा सके। आदमी के साथ उसे भी बचाया जा सकता है। भारत के लिए कोई जीवन-दर्शन अगर हो

सकता है तो वह यह हो सकता है कि भारत आने वाले जगत में व्यक्तियों की गरिमा को बचाने की घोषणा करे और व्यक्ति कैसे बचाए जा सकें, उनकी स्वतंत्रता, उनके प्राणों की ऊर्जा, उनकी गरिमा और गौरव कैसे बचाया जा सके, उन सबको मशीनों में बदलने से कैसे बचाया जा सके। उसकी अपनी एक चुनौती, अपना एक आवाहन हो और इस आवाहन के ईर्दगिर्द न केवल सारे देश के प्राण जग सकते हैं, बल्कि सारे जगत में एक मार्गदर्शन उपलब्ध हो सकता है।

चौथी बात मुझे यह कहनी है कि भारत को अपने आनेवाले भविष्य के निर्माण में अपनी पिछली भूलों को ठीक से समझ लेना होगा ताकि फिर से वे न दोहराई जायँ। भारत ने कुछ बुनियादी भूलें तीन हजार वर्षों में दोहराई हैं और यहाँ के विचारशील लोग इतने कमजोर, इतने सुस्त और शक्तिहीन हैं कि उन भूलों के बाबत चिन्तन करने की सामर्थ्य और साहस भी नहीं जुटा पाते। भारत ने एक बड़ी भूल दोहराई है और वह यह कि भारत ने आत्मा-परमात्मा की एकांगी बातें की है। शरीर को और पदार्थ को बिलकुल छोड़ दिया है और भूल गया है। एक हजार वर्ष की गुलामी इसका परिणाम थी। आदमी आत्मा भी है और शरीर भी। जीवन चेतना भी है और पदार्थ भी। हिन्दुस्तान ने केवल चेतना और आत्मा की बातों में अपने को भुलाए रखा और दरिद्र होता गया। शरीर क्षीण होता गया, शक्ति नष्ट होती गई। तर्क खोजने में दुनिया में हमारी कोई सानी नहीं, हमारा कोई मुकाबला नहीं। जब हम गुलाम हो गए तो हमने कहा कि मुसलमानों ने आकर हमको गुलाम कर दिया। जब अंग्रेजों ने हमको पराजित कर दिया और हमारे ऊपर हावी हो गए तो हमने कहा कि अंग्रेजों ने हमें गुलाम करके कमजोर कर दिया। सच्चाई उलटी है। जबतक कोई कौम कमजोर नहीं होती तबतक किसी को कोई गुलाम कैसे बना सकता है। गुलामी से कभी कोई कमजोर नहीं होता। कमजोर होने से जरूर कौमें गुलाम हो जाती हैं। अंग्रेजों की वजह से, मुसलमानों की वजह से हम कमजोर नहीं हुए हैं। हम कमजोर थे। कमजोर हम क्यों हो गए? कमजोर किया हमारे एकांगी धर्मों ने, कमजोर किया हमारे साधु-महात्माओं ने, कमजोर किया हमारे अधूरे संन्यासियों ने। न मुसलमानों ने, न अंग्रेजों ने, न हूणों ने, न मुगलों ने और न तुर्कों ने, किसी ने हमको कमजोर नहीं किया। कमजोरी आई हमारे भीतर से, अधूरेपन से।

हमने जीवन में पदार्थ की महत्ता को अंगीकार नहीं किया। शरीर के हम दुश्मन रहे। सम्पत्ति और शक्ति के हम विरोधी रहे। जो कौम सम्पत्ति, शक्ति और पदार्थ का विरोधी है फिर वह राम भजन करने योग्य रह जायगी ? कहीं और किसी के योग्य नहीं। फिर वह हरिकीर्तन कर सकती है—अखण्ड कीर्तन। लेकिन और कुछ भी उससे नहीं हो सकता है। और मैं आपको स्मरण दिला दूं कि जिनके पास शक्ति नहीं उनके पास परमात्मा तक पहुँचने के मार्ग भी वन्द हो जाते हैं। कमजोर, नपुंसक, ढीले और सुस्त लोगों के लिए वह मार्ग नहीं है। हिमालय की चोटियाँ जो नहीं चढ़ सकते, वे परमात्मा की चोटियों को क्या चढ़ सकेंगे। हिमालय की चोटियाँ चढ़ने के लिए वाहर से लोग आते हैं। एवरेस्ट को चढ़ने के लिए वाहर से लोग आते हैं और हमारे वच्चे अँधेरे में जाने से डरते हैं। हम आत्मा की अमरता की वातें करते हैं पर हमसे ज्यादा मौत से डरने वाला जमीन पर कोई भी नहीं। वड़ी अजीव वात है। अगर भारत को कोई भविष्य वनाना है तो उसे पूरे धर्म को विकसित करना होगा। पूरे धर्म से मेरा मतलव है जो शरीर को भी स्वीकार करता है और आत्मा को भी। एक दूसरी भूल पश्चिम ने की है। उन्होंने आत्मा को अस्वीकार करके केवल शरीर को मान लिया है। एक अति की भूल उन्होंने की और एक अति की भूल हमने की। जीवन-संगीत इस तरह पैदा नहीं होता।

वुद्ध से एक युवा राजकुमार ने दीक्षा ली। वह अत्यन्त भोगी और विलासप्रिय था। वुद्ध से दीक्षा लेकर जव वह संन्यासी हुआ तो वुद्ध के दूसरे भिक्षुओं ने कहा कि यह इतना विलासी राजकुमार, जो कभी महलों से वाहर नहीं निकला, जिसने कभी खुले आसमान की धूप नहीं सही, जो चलता था रास्तों पर तो फूल और मखमल विछाए जाते थे, मकान की सीढ़ियों पर सहारा लेकर चढ़ने के लिए नग्न स्त्रियों को खड़ा करता था, संन्यासी हो रहा है। वुद्ध ने कहा, "मनुष्य का मन हमेशा अति में डोलता है। जो भोगी है वह योगी हो जाता है। जो योगी है वह भोगी हो जाता है।" अभी पश्चिम में वहुत जोरों से धर्म का प्रभाव वढ़ रहा है। चर्च में लोग जा रहे हैं। उनका दिमाग भोग से ऊव गया है, उनकी घड़ी का पेंडुलम धर्म की तरफ जा रहा है। हिन्दुस्तान के लोग धर्म मे ऊव गए। उनका पेंडुलम भोग की तरफ, सिनेमा की तरफ जा रहा है। वहाँ उनकी भीड़ चर्च के सामने इकट्ठी हो रही है। यहाँ की भीड़ सिनेमा के पास इकट्ठी हो रही है। मनुष्य का जो वीमार

मन है वह हमेशा अति पर जाता है। ज्यादा खाने वाले लोग उपवास करने लग जाते हैं। जिनके चित्त में स्त्रियों के चित्र बहुत चलते हैं वे ब्रह्मचारी हो जाते हैं। जीवन अति में चलता है और अति भूल है, एक्स्ट्रीम भूल है। बुद्ध ने कहा—श्रोण अति पर जा रहा है, और भिक्षुओं ने देखा कि वही हुआ। जिस दिन से राजकुमार श्रोण दीक्षित हुआ, वह काँटों वाली पगडंडी पर चलता था ताकि पैरों में काँटे छिद जायँ और लहूलुहान हो जायँ। वह त्यागी-तपस्वी ठीक रास्ते पर कैसे चल सकता था। कल तक वह मखमलों पर चलता था और अब वह काँटों पर चलता है। बीच का कोई रास्ता था ही नहीं। दूसरे भिक्षु एकबार भोजन करते, वह एक दिन भोजन करता और एक दिन निराहार रहता। दूसरे भिक्षु वृक्षों की छाया में बैठते, वह भरी दोपहरी धूप में खड़ा रहता। दूसरे भिक्षु वस्त्र ओढ़ते, लेकिन वह सर्दी में भी नग्न पड़ा रहता। उसने सारे शरीर को सुखाकर कांटा बना लिया। वह सुन्दर राजकुमार, उसकी सुन्दर काया सूखकर काली पड़ गई, कुरूप हो गई। उसके पैरों में छाले पड़ गए। उसके पैरों में लहू बहता रहता। मवाद पड़ गई। फोड़े पड़ गए। बुद्ध एक वर्ष बाद उस राजकुमार के पास गए और कहा—राजकुमार श्रोण, मैंने सुना है कि जब तू भिक्षु नहीं हुआ था तो सितार बजाने में, वीणा बजाने में तेरी बड़ी कुशलता थी। क्या यह सच है? श्रोण ने कहा, हाँ, यह सच है। लोग कहते थे—तेरे जैसा वीणा बजाने वाला कोई कुशलवादक नहीं है। तो बुद्ध ने कहा, मैं एक प्रश्न में उलझ गया, उसे पूछने आया हूँ तुझसे। वीणा के तार अगर बहुत ढीले हों तो संगीत पैदा होगा? श्रोण ने कहा कि कसे तार ढीले हो गए तो टंकार भी पैदा नहीं हो सकती, संगीत कैसे पैदा होगा। बुद्ध ने कहा—और अगर तार बहुत कसे हों तो संगीत पैदा होता है? श्रोण, ने कहा—नहीं, अगर तार बहुत कसे हों तो वे टूट जाते हैं, फिर भी संगीत पैदा नहीं होता। तो बुद्ध ने कहा—संगीत पैदा कब होता है? संगीत के पैदा होने का राज और रहस्य क्या है? श्रोण ने कहा—वीणा के तार की एक ऐसी दशा भी है जब न तो हम कह सकते हैं कि वे ढीली हैं और न कह सकते हैं कि कसे हुए हैं। उस मध्य में, उस संतुलन में, उस समता में, उस बिन्दु पर संगीत का जन्म होता है। बुद्ध ने कहा—मैं जाता हूँ। इतना ही कहने आया था कि जो वीणा में संगीत पैदा होने का नियम है, जीवन की वीणा पर भी संगीत पैदा होने का वही नियम है। जीवन की वीणा से संगीत वहीं पैदा होता है

जब न तो तार आत्मा की तरफ बहुत कसे होते है और न शरीर की तरफ बहुत ढीले होते है।

भारत ने शरीर के विरोध में आत्मा की तरफ तारों को कस लिया। हमारी वीणा से संगीत उठना हजारों साल से बन्द हो चुका है। पश्चिम में जीवन की वीणा के तार शरीर की तरफ बिलकुल ढीले छोड़ दिए, उनपर टंकार ही नही पैदा होती, उससे भी संगीत उठना बन्द हो गया है। क्या हम जीवन की बीणा पर संगीत पैदा करना चाहते है ? तो हमें पश्चिम और पूर्व की दोनों भूलों से भारत के भविष्य को बचाना है। पूर्व के अतीत से और पश्चिम के वर्त्तमान से अपने को बचा लेना है, दोनों अतियों से बचा लेना है। अगर यह हो सके तो एक सौभाग्यशाली देश का जन्म हो सकता है। और हो सकता है यह भी कि दुनियाँ में भारत इतनी तीव्रता से, इतनी ऊर्जा से उठे जिसका कोई हिसाब न लगा सके। डेढ़-दो हजार वर्षो से भारत की चेतना की भूमि परती पड़ी है। उसपर कोई फसल नही बोई गई। यह हो सकता है कि अगर हमने कुशलता से, शमझदारी से, बुद्धिमत्ता से काम लिया तो दो हजार वर्ष का दुर्भाग्य हमारे वरदान मे फलित हो जाय और हमारे देश की चेतना और आत्मा की जो जमीन परती पड़ी है उसपर हम जीवन की कोई सुन्दर फसल काट सकें। यह हो सकता है, लेकिन यह आसमान से नही होगा और किसी भगवान की पूजा और प्रार्थना करने से नही होगा, और शास्त्रों और मंदिरों के सामने सिर टेकने से नही होगा। बहुत हो चुकी ये सारी बातें और इनसे कुछ भी नही हुआ है। यह होगा, अगर हम कुछ करेंगे। यह हमारे संकल्प और हमारे भीतर सोई हुई शक्ति के जगाने से हो सकता है। भारत वही बनेगा जो हम उसे बना सकते है।

मैं कोई राजनीतिज्ञ नही हूँ। मुझे राजनीति से कुछ लेना-देना नही है। लेकिन मैं तटस्थ भी नही हो सकता। मुल्क के लिए चिंतन करना ही होगा, अन्यथा मुल्क भटक जायगा और हम सब उसके लिए अपराधी सिद्ध होंगे। राजनीतिज्ञ ही नही, साधु और संन्यासी भी, जो चुपचाप खड़े रहेंगे, अपराधी सिद्ध होंगे और उनका अपराध राजनीतिज्ञों के अपराध से बड़ा होगा। उनका अपराध बहुत पुराना है। असल मे मनुष्य जाति को जिन लोगों ने सबसे ज्यादा नुकसान पहुँचाया है वे अच्छे लोग है, जो राजनीति की तरफ पीठ करके खड़े हो जाते है और बुरे लोगों को मौका देते है कि वे राजनीति में प्रविष्ट हो जायें।

बर्टेन्डरसल ने बहुत पहले एक वक्तव्य दिया था। वक्तव्य अद्‌भुत था। उस वक्तव्य का शीर्षक था, "वह नुकसान जो अच्छे लोग करते हैं।" (The harm that good men do)। अच्छे लोग कौन-सा नुकसान करते हैं? अच्छे लोग तटस्थ हो जाते हैं। अच्छे लोग निरपेक्ष हो जाते हैं। अच्छे लोग कहते हैं, हमें कोई मतलब नहीं। अच्छे लोग कहते हैं, यह संसार की बातें हैं, हम संन्यासी हैं। अच्छे लोग बुरे लोगों के लिए जगह खाली करते हैं और फिर बुरे लोग जो करते हैं उससे यह दुनियाँ, जो हमारे सामने है, पैदा होती है। मैं अच्छे आदमियों को आमंत्रण देता हूँ कि आप बुरे आदमियों को कहीं भी खाली जगह देते हैं, तो आपका अपराध है। इस अपराध से प्रत्येक को बचना है और अगर हम बच सकते हैं तो निराश होने का कोई कारण नहीं है।

क्या भारत को क्रांति की जरूरत है ?

क्या भारत को क्रांति की जरूरत है ? यह प्रश्न वैसा ही है जैसे कोई किसी बीमार आदमी के पास खड़ा होकर पूछे कि क्या बीमार आदमी को औषधि की जरूरत है ? भारत को क्रांति की जरूरत ऐसी नहीं है, जैसी और चीजों की जरूरत होती है, बल्कि भारत बिना क्रांति के अब जी भी नहीं सकेगा । इस क्रांति की जरूरत कोई आज पैदा हो गई है, ऐसा भी नहीं है । भारत के पूरे इतिहास में कोई क्रांति कभी हुई ही नहीं । आश्चर्यजनक है यह घटना कि एक सभ्यता कोई पाँच हजार वर्षों से अस्तित्व में है लेकिन वह क्रांति से अपरिचित है । निश्चित ही जो सभ्यता पाँच हजार वर्षों से क्रांति

से अपरिचित है वह करीब-करीब मर चुकी होगी। हम केवल उसके मृत बोझ को ही ढो रहे हैं और हमारी अधिकतम समस्याएँ उस मृत बोझ को ढोने से ही पैदा हुई हैं। अगर हम मरे हुए लोगों की लाशें इकट्ठी करते चले जायँ तो पाँच हजार वर्षों में उस घर की जो हालत हो जायगी, वही हाल पूरे भारत की हो गई है। अगर एक घर में मरे हुए लोगों की सारी लाशें इकट्ठी हो जायँ तो क्या परिणाम होगा? उस घर में आनेवाले नए बच्चों का जीवन अत्यंत संकटपूर्ण हो जायगा। लेकिन इस देश की स्थिति और भी बुरी है। घर में लाशें इकट्ठी हों तो निश्चित ही घर मरघट हो जायगा, लेकिन अगर किसी घर में बूढ़े इकट्ठे हो जायँ और पाँच हजार वर्षों तक मरें ही नहीं, तो उस घर की हालत और भी बदतर हो जायगी। लाशें कुछ परेशानी नहीं दे सकती हैं, मरा हुआ आदमी क्या तकलीफ दे सकता है? अगर पाँच हजार वर्षों के बूढ़े इकट्ठे हो जायँ किसी घर में तो उस घर के बच्चे पागल ही पैदा होंगे। उस घर में स्वस्थ मस्तिष्क की कोई संभावना नहीं रह जायगी। और जब कोई सभ्यता क्रांति को इनकार कर देती है तो उसकी स्थिति ऐसी ही हो जाती है। जो चीजें कभी की मर जानी चाहिए थीं, वे जिंदा बनी रह गईं और उनके जिंदा बने रहने के कारण जो पैदा होना चाहिए था, वह अवरुद्ध हो गया है, वह पैदा नहीं हो पाया। बूढ़े मरते हैं इसलिए बच्चे पैदा होते हैं। जिस दिन बूढ़ों का मरना बंद हो जायगा उस दिन बच्चों का पैदा होना भी बंद हो जायगा। कठोर लगती है यह बात। निश्चित ही कहने में अच्छी भी नहीं मालूम पड़ती लेकिन जीवन का नियम ऐसा ही है और उसे समझ लेना उचित है। किसी को विदा होना पड़ता है इसलिए किसी का स्वागत हो पाता है। कोई जाता है इसलिए कोई आ पाता है। लेकिन जो समाज क्रांति को इनकार कर देता है वह चीजों के जाने से इनकार कर देता है और तब नई चीजें आनी बंद हो जायँ तो आश्चर्य नहीं। पुराने के अति मोह के कारण नए का जन्म अवरुद्ध हो जाता है। भारत में नए का जन्म न मालूम कितनी सदियों से अवरुद्ध है।

एक छोटी-सी घटना से मैं इस बात को समझाने की कोशिश करूँगा। एक गाँव में एक बहुत पुराना चर्च था। उस चर्च की दीवालें जीर्ण हो गई थीं। उस चर्च के भीतर जाना भी खतरनाक था क्योंकि वह किसी भी क्षण गिर सकता था। हवाएँ चलती थीं तो वह चर्च कँपता था। आकाश में

बादल गरजते थे तो लगता था अब गिरा, अब गिरा। उस चर्च के भीतर प्रार्थना करनेवाले लोगों ने जाने की हिम्मत छोड़ दी। चर्च की जो कमीटी थी, आखिर वह कमीटी मिली। वह भी चर्च के भीतर नहीं, चर्च के बाहर। क्योंकि चर्च के भीतर खड़ा होना तो मौत को आमंत्रण देना था। वह कभी भी गिर सकता था। हालाँकि वह गिरता भी नहीं था, अगर वह गिर जाता तो भी ठीक था। लेकिन वह न गिरता था और न यह संभावना मिटती थी कि वह कभी भी गिर सकता है। कमीटी के लोगों ने तय किया कि कुछ न कुछ करना जरूरी है। चर्च इतना पुराना हो गया है कि अब प्रार्थना करनेवाले लोग भी उसमें आते नहीं। पास से निकलने वाले लोग भी तेजी से गुजरते हैं कि वह किसी भी क्षण गिर सकता है। क्या करें ?

उन्होंने चार प्रस्ताव स्वीकार किए। चर्च की कमीटी ने पहला प्रस्ताव यह स्वीकार किया कि यह चर्च इतना पुराना हो गया है कि अब उसे और आगे जिलाये रखना असंभव है। सर्वसम्मति से उन्होंने स्वीकार कर लिया कि पुराने चर्च को गिराना अवश्य है। फिर उन्होंने दूसरा प्रस्ताव यह किया कि पुराना चर्च गिराना आवश्यक है तो उससे भी ज्यादा आवश्यक यह है कि हम नया चर्च निर्मित करें। एक नया चर्च बनाना आवश्यक है, इसे भी सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। तीसरा प्रस्ताव उन्होंने यह पास किया कि नया चर्च जो बनेगा उसमें पुराने चर्च की ही ईंटें लगेंगी। हम पुराने चर्च के दरवाजे ही लगायेंगे। पुराने चर्च के सामान से और चर्च की उसी जगह पर, और ठीक पुराने चर्च–जैसा ही नया चर्च हमें बनाना है। इसे भी उन्होंने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया और चौथा प्रस्ताव यह पास किया कि जब तक नया चर्च न बन जाय तब तक पुराना चर्च नहीं गिराना है।

वह चर्च अब भी खड़ा है। वह चर्च कभी नहीं गिरेगा क्योंकि जो लोग नए को निर्मित करना चाहते है उन्हें पुराने को विनष्ट करने का साहस जुटाना पड़ता है। पुराने को विनष्ट किए बिना नए का न कभी निर्माण हुआ है और न हो सकता है। पुराने के विध्वंस पर ही नए का जन्म और सृजन होता है। क्रांति का अर्थ है इस बात की तैयारी कि हम पुराने को हटाने की हिम्मत जुटाते हैं। निश्चित ही खतरनाक है यह तैयारी, क्योंकि हो सकता है की हम पुराने को गिरा दें और नए को न बना पायें, यह संभावना हमेशा है। यह खतरा हमेशा है कि पुरानी सीढ़ी पैर से छूट जाय और नयी सीढ़ी

पैर के लिए उपलब्ध न हो सके। यह खतरा है कि बूढ़े गुजर जायँ और बच्चे न आयें। लेकिन खतरे की स्वीकृति का नाम ही क्रांतिकारी मन है। चूँकि पाँच हजार वर्षों से हमने इस खतरे में कदम उठाने की हिम्मत नहीं की इसलिए हम क्रांति से नहीं गुजर सके। पुराने में एक सुविधा है, एक सुरक्षा है। नए का पता नहीं, कैसा होगा, अपरिचित होगा, होगा भी या नहीं होगा, यह भी संदिग्ध है। हम बना पायँगे या नहीं बना पायेंगे, यह भी केवल आशा और सपना है। पुराना, वास्तविक है। नया संभावना है, नया होनेवाला भविष्य है। अतीत हो चुका है, वह है, वह कहीं खड़ा है। भविष्य अभी कहीं भी नहीं है, अंधकार में है, अज्ञात में है, हो सकता है, नहीं भी हो सकता है।

क्रांति की दृष्टि का अर्थ यह है कि हम अनिश्चित के लिए निश्चित को छोड़ने का साहस जुटाते हैं। हम अज्ञात के लिए ज्ञात से कदम उठा लेने का साहस जुटाते हैं। हम जो नहीं है उसके लिए उसको मिटाने का साहस जुटाते हैं जो है। क्रांतिकारी दृष्टि का और क्या अर्थ होता है ? क्रांतिकारी दृष्टि का अर्थ है साहस, ज्ञात से अज्ञात में जाने का, परिचित से अपरिचित में जाने का। जो था, उससे उसमें जाने का जो हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। लेकिन यही साहस किसी जाति को जवान बनाता है और जो जाति यह साहस खो देती है वह बूढ़ी हो जाती है।

यह जाति बूढ़ी हो चुकी है। यह जाति कभी की बूढ़ी हो चुकी है। अब तो इस बात की स्मृति ही खो गई है कि यह जाति कभी जवान थी भी या नहीं। यह पुरानापन इतना पुराना हो गया है और इसके पीछे एक ही कारण है कि हम सुरक्षा के अति प्रेमी हैं। सुरक्षा का जितना ज्यादा मोह होता है, क्रांति की संभावना उतनी ही कम होती है। एक नदी हिमालय से निकलती है। गंगोत्री से गंगा बही चली जाती है। प्रति क्षण उसे पुराना किनारा छोड़ देना पड़ता है और प्रति पल पुरानी भूमि छोड़ देनी पड़ती है। अनजान, अज्ञात रास्तों पर उस सागर की खोज चलती है जिसका उसे कोई पता नहीं कि वह कहाँ है ? होगा भी या नहीं होगा ? अज्ञात, अनजान रास्ते पर प्रति पल पुराने को छोड़ते हुए नदी आगे बढ़ती चली जाती है। नदी की जो दृष्टि है, वह क्रांति की जीवन-दृष्टि है। एक सरोवर है, वह पुराने को छोड़ता नहीं। वह कहीं आगे नहीं बढ़ता है। वह घेरा बाँधकर वहीं डूबकर बैठ जाता है। उसकी कोई गति नहीं है, वह सुरक्षित है एक अर्थ में। तट उसका

पुराना है, सदा वही जो कल था, परसों भी था। जो परिचित है, वह वहीं सुरक्षित है। उसे कहीं जाना नहीं है। सरिता की जिन्दगी में कुछ जीवन्तता है, गति है और सागर से मिलन है, कोई उपलब्धि है। सरिता दौड़ रही है, नए को जान रही है, नई हो रही है रोज, नई धाराएँ मिल रही हैं। नया तट, नई भूमि और एक दिन वह पहुँच जायगी अपने प्रियतम तक, अपने सागर तक। अगर वह रुक जाय तो सागर कभी भी नहीं हो पायगी, रह जायगी एक छोटी-सी नदी, जिसकी सीमा थी, जिसका तट था। लेकिन तटहीन' असीम और अनंत सागर से उसका मिलन नहीं हो सकता। वह कभी भी सागर नहीं हो पायगी। एक सरोवर है छोटा-सा, वह भी सरिता हो सकता था लेकिन उसने अनजान और अपरिचित में जाने की हिम्मत नहीं जुटाई। उसने उचित माना कि वह वन्द हो जाय, एक जगह ठहर जाय, वहीं रहे। जीता है वह भी, लेकिन सागर से मिलने को नहीं, केवल सड़ने को। जीएगा और सड़ेगा। उसमें जीने का एक ही अर्थ है कि रोज सड़ेगा, रोज वाष्पीभूत होगा, कीचड़ इकट्ठी होगी, कचरा इकट्ठा होगा, डवरा वनेगा लेकिन उसका जीवन कहीं जाने वाला जीवन नहीं है। रुक गया, ठहर गया, कोई जीवन्तता उसके भीतर नहीं है।

भारत हजारों वर्षों से एक सरोवर वन गया है। उसकी गति अवरुद्ध हो गई है। वह ठहर गया है, सुरक्षा में ठहर गया है, रुक गया है ज्ञात के साथ, जो जाना हुआ है। उससे आगे वढ़ने की उसने हिम्मत खो दी है। उसे अपने घर की चार दीवारी के वाहर नहीं जाना है। अगर कभी वच्चे खिड़की से वाहर झांकते हैं तो वूढ़े उन्हें वापस वुला लेते हैं कि घर के भीतर आ जाओ, वाहर खतरा है। कभी अगर वच्चे घर की सीढ़ियाँ छलांग लगा लेते हैं और वाहर के विराट आँगन में, जहाँ अनन्त तक फैला हुआ आकाश है, जाने की हिम्मत करते हैं तो वूढ़े उन्हें डराते हैं और कहते हैं, घरमें आ जाओ। वाहर वर्षा हो सकती है, धूप है, ताप है, फिर वाहर अज्ञात है, दुश्मन हो सकते हैं, घर आ जाओ। भीतर आ जाओ चार दीवारी में, सव सुरक्षित है। आराम से यहाँ रहो, खाओ-पियो, सोओ और मरो। वाहर मत जाना। एक सरोवर वना लिया है जीवन को हमने। पर क्रांति है जीवंत। जीवन रोज वदलाहट है। जितना जीवंत है व्यक्तित्व, उतना गतिशील है। गति और जीवन के एक ही अर्थ हैं। क्रांति और जीवन के भी एक ही अर्थ हैं। जीवन में क्रांति की जरूरत

है। अगर इसे हम ठीक से समझें तो इसका अर्थ हुआ जीवन को जीवन की जरूरत है। क्रांति नहीं तो जीवन कहाँ है ? बदलाहट नहीं तो जीवन कहाँ है ? सिर्फ मरा हुआ आदमी बदलना बन्द कर देता हैं, फिर वह नहीं बदलता है, फिर वह ठहर जाता है। फिर उसका आगे कोई भविष्य नहीं है, फिर है सिर्फ अतीत, जो बीत गया वही। आगे कुछ भी नहीं हैं। आगे आ गया अंत। मरा हुआ आदमी बदलाहट बन्द कर देता है। जिन्दा आदमी बदलता है। बच्चे जोर से बदलते हैं क्योंकि ज्यादा जीवित हैं, बूढ़े बदलना बन्द कर देते हैं क्योंकि वे मृत्यु के करीब पहुँचने लगे। बदलाहट है जीवन का स्वरूप। अगर हम रोज बदल नहीं पाते हैं तो निश्चित ही हम रुक जाते हैं, जीवन के साथ बह नहीं पाते। हम कहीं ठहर जाते हैं और वही ठहराव जड़ता लाता है, वही ठहराव सड़ांध लाता है, वही ठहराव मृत्यु लाता है।

भारत एक बड़ा मरघट है। यहाँ हम बहुत दिन पहले मर चुके हैं। मर जाने के बाद का अस्तित्व जो है, उसमें हम जीवित हैं। हम प्रेतात्माओं की भाँति हैं जो कभी की मर चुकी हैं लेकिन फिर भी हमें खयाल है कि हम जिन्दा हैं और जीए चले जा रहे हैं। क्या कभी हमने यह सोचा कि क्या कारण है इस अवरोध का ? यह क्रांतिविरोधी जीवन कैसे पैदा हो सका, यह जड़ता से भरी हुई स्थिति कैसे पैदा हो सकी ? हमने कैसे खो दिया जीवन का स्फुरण ? हमने कैसे खो दिया सागर से मिलने की अनंत यात्रा का पथ ? हमने कैसे खो दिया नवीन और अज्ञात को जानने का साहस ? हम कैसे ठहर गए हैं ? जबतक हम यह नहीं समझ लें तबतक क्रांति की क्या रूपरेखा बनेगी ?

मैं चार बिन्दुओं पर विचार करना चाहता हूँ जिनकी वजह से भारत एक सरोवर बन गया है, सरिता नहीं। सरोवर हो जाय तो बहुत अपमानजक है। वह जीवन का अपमान है और परमात्मा का भी। क्योंकि परमात्मा के जगत में प्रतिपल परिवर्तन है। वहाँ कोई चीज ठहरी हुई नहीं है। एडिंग्टन कहता था कि मैंने सारा भाषाकोश खोजकर देखा। मुझे एक शब्द बिलकुल झूठ मालूम पड़ा और वह शब्द है,—ठहराव (rest)। एडिंग्टन ने कहा कि ठहराव-जैसी कोई चीज तो जगत में होती ही नहीं। ठहराव-जैसी कोई घटना ही नहीं घटती। सारी चीज परिवर्तन में हैं। प्रतिपल परिवर्तन है, प्रवाह है। जीवन का एक बहाव है, वहाँ ठहराव कहाँ ?

एडिंग्टन मर चुका है अन्यथा उससे हम कहते कि आ जाओ भारत और

तुम पाओगे कि ठहराव भी कहीं है। चलता होगा सारा जगत तुम्हारा, लेकिन भारत ठहरा हुआ है और न केवल ठहरा हुआ है वल्कि हम उस ठहराव का गुणगान करते हैं, यशगान करते हैं और कहते हैं कि यूनान न रहा, वेबिलोन न रहा, सीरिया न रहा, सारी दुनियाँ की सभ्यता आई और गई। मिश्र अब कहाँ है? लेकिन भारत अब भी है। हम सोचते नहीं कि इसका मतलब क्या है। इसका मतलब यह है कि जो भी जीवंत थे वे बदलते चले गए, उनकी सभ्यताएँ नई होती चली गईं, उनके जीवन ने नई दिशाएँ लीं, वे नए होते चले गए और जो नहीं बदले वे अब भी वहीं हैं। वे वहीं खड़े हैं जहाँ वे कल भी थे, परसों भी थे, हमेशा थे। वे चलना ही भूल गए। लेकिन किन कारणों ने भारत में यह अवरोध आया; यह आज विचारणीय हो गया है क्योंकि भारत में क्रांति अपेक्षित है, जरूरी है।

भारत क्यों ठहर गया? ठहर जाना इतना जीवनविरोधी है कि जरूर कोई बहुत बड़ी तरकीब ईजाद की गई होगी तब हम ठहर पाए हैं, नहीं तो जीवन खुद तोड़ देता है सारे ठहराव को। हमने जरूर कोई बहुत होशियारी की होगी तब हम रुक पाए, अन्यथा रुकना बहुत कठिन है।

भारत ने कौन-सी तरकीब की जिससे आदमी अतीत में ठहर गया और भविष्य में उसकी गति बन्द हो गई। भविष्य के आकाश अनजान और अपरिचित के अपरिचित रह गए। हमने कौन-सी तरकीब की है? चार बिन्दुओं पर मुझे यह तरकीब दिखायी पड़ती है।

पहला बिन्दु यह है कि जीवन की गति के लिए आत्यंतिक रूप से परलोकवादी दृष्टि अत्यन्त खतरनाक और घातक है। अगर कोई जाति निरंतर परलोक के संबंध में विचार करती हो, मृत्यु के बाद जो है उसके संबंध में विचार करती हो तो जीवन अवरुद्ध हो जायगा, जीवन अर्थहीन हो जायगा, जीवन असार हो जायगा। अगर एक आदमी सदा यह सोचता हो कि मरने के बाद क्या होगा तो जीवन से उसकी दृष्टि छिटक जायगी। अगर एक कौम निरंतर मोक्ष के संबंध में चिन्तन करती हो तो जीवन के संबंध में उपेक्षा हो जाना सुनिश्चित है और जीवन अगर उपेक्षित हो जाय तो जीवन की जड़ कट जाती है। और हम पांच हजार वर्षों से जीवन की उपेक्षा करके जीने की चेष्टा कर रहे हैं। यह जीवन जो चारों तरफ दिखायी पड़ता है—फूलों का, पक्षियों का, मनुष्यों का—यह जीवन जो शरीर से प्रकट होता है यह निन्दित है, यह पाप

है, यह पाप का फल है। आप इसलिए पैदा नहीं हुए हैं कि परमात्मा आप पर प्रसन्न हैं, आप इसलिए पैदा हुए हैं कि आपने पाप किए हैं और आपको पाप की सजा दी जा रही है यहाँ भेजकर। जगत एक कारागृह है, जहाँ परमात्मा पापियों को सजा दे रहा है क्योंकि पुण्यात्मा फिर जीवन में कभी वापस नहीं लौटते। उनकी आवागमन से मुक्ति हो जाती है। पापी वापस लौट आते हैं। हमने जो धारण बनाई है जीवन के बाबत, वह ऐसी है जैसी किसी ने कारागृह की धारणा की हो। परमात्मा ने इस पृथ्वी को जैसे चुन रखा हो, पापियों को सजा देता है, तो यहाँ भेजता है। यह जीवन एक पश्चात्ताप है। यह जीवन किसी पाप का पुरस्कार है। यह जीवन सजा है। यह जीवन एक दंड है। तो जीवन जब एक दंड है तो उसे झेल लेने की जरूरत है, उसको बदलने की क्या जरूरत है? मुझे अगर जेल भेज दिया जाय तो मैं जेल की दीवालों को सजाऊँगा, तस्वीरें लगाऊँगा, जीवन के फूल खिलाऊँगा? नहीं, मैं चाहूँगा कि जितनी जल्दी कट जाय यह समय अच्छा और मैं जेल के बाहर निकल जाऊँ। मैं जेल की सजावट करूँगा? मैं जेल को सुन्दर बनाने की कोशिश करूँगा? पागल हूँ मैं जो जेल को सुन्दर बनाऊँ। जेल से मुझे छूटना है, निकल जाना है। जेल से मुझे क्या लेना-देना है?

भारत जीवन के साथ कारागृह-जैसा व्यवहार कर रहा है। हम यह सोच रहे हैं निरंतर कि कैसे जीवन से मुक्त हो जायँ, कैसे आवागमन से छुटकारा हो जाय। मैं अभी भावनगर था। एक छोटी-सी बच्ची ने, जिसकी उम्र मुश्किल से दस या ग्यारह साल की होगी, आकर पूछा कि मुझे एक बात बताइए। जीवन से छुटकारा कैसे हो सकता है, मुक्ति कैसे हो सकती है? मैं तो चौंककर रह गया। ग्यारह वर्ष की, दस वर्ष की बच्ची यह पूछती है कि जीवन से छुटकारा कैसे हो सकता है! जो अभी जीवन के घाट पर भी पूरी तरह नहीं आई जिसने अभी जीवन की सरिता में छलांग नहीं लगाई, जिसने अभी जीवन के वृक्षों की ऊँचाई नहीं देखी, जिसने अभी जीवन के पक्षियों को उड़ते नहीं जाना, जिसने अभी जीवन के सूरज की रोशनी की तरफ आँखें नहीं खोलीं, अभी वह बच्ची जीवन के मंदिर की दीवार पर ही खड़ी है, मंदिर में प्रविष्ट भी नहीं हुई और वह सीढ़ियों पर ही पूछती है कि जीवन से छुटकारा कैसे हो सकता है? निश्चित ही किसी ने उसके मन को विपाक्त कर दिया है। अभी से जहर डाल दिया है उसके दिमाग में। अब वह जीवन को जी भी नहीं पायगी। अब वह

जीवन को सुन्दर कैसे बनायगी ? जिस जीवन से छूटना है उसे हम सुन्दर क्यों बनावें ? जिस जीवन से छूटना है उसे हम बदलें क्यों ?

इस परलोकवादी चिन्तन ने भारत की सारी क्रांतिकारी प्रतिभा को छीन लिया है। यह मैं नहीं कहता कि परलोक नहीं है, न मैं यह कहता हूँ कि जीवन के बाद और जीवन नहीं है पर मैं यह कहना चाहता हूँ कि जीवन के बाद जो भी जीवन है वह इसी जीवन से विकसित होता है, वह इसी जीवन का अंतिम चरण है और अगर इस जीवन की उपेक्षा होगी तो उस जीवन को भी हम सँभाल नहीं सकते। उसे भी नष्ट कर देंगे। वह इस जीवन पर ही खड़ा होगा। वह इसकी ही निष्पत्ति है। अगर कल है कोई, तो मेरे आज पर खड़ा होगा और अगर मेरा आज उपेक्षित है तो मेरा कल निर्मित होने वाला नहीं। कल के निर्माण के लिए भी यह जरूरी है कि आज पर मेरा ध्यान हो। कल की फिक्र छोड़ देनी चाहिए, फिक्र करनी है आज की। अगर मेरा आज ठीक निर्मित हुआ और आज की जिन्दगी मेरी आनंद की जिन्दगी हुई तो कल मैं फिर एक नए आनन्द से भरे दिवस में जागूंगा क्योंकि मैंने आज आनंद में जिया है। कल मेरी आँखें फिर एक नए आनंद से भरे हुए जगत में खुलेंगी, लेकिन अगर आज मैंने नष्ट किया है तो कल भी मेरा नष्ट हो रहा है। क्योंकि कल आज की ही निष्पत्ति है, आज का ही विकास है। इस जीवन की हमने उपेक्षा की है और इस भाँति हम परलोकवादी तो रहे हैं लेकिन परलोक भी हमने सुधारे हों, ऐसा मुझे नहीं मालूम पड़ता है। जो इस लोक को नहीं सुधार सकते, ऐसे कमजोर लोग परलोक को सुधार सकेंगे, इसकी उम्मीद नहीं की जा सकती।

तो मेरी दृष्टि में परलोकवादी चिन्तन से छुटकारा चाहिए। वह अत्यंतिक बल, परलोक पर नहीं, इस जीवन पर जरूरी है। यह जो जीवन हमें उपलब्ध हुआ है उसे हम सुन्दर बना सकें, इस जीवन का रस उपभोग कर सकें, इस जीवन से आनंद अवशोषित कर सकें। यह जो अवसर मिला है जीवन का, यह ऐसे ही न खो जाय। इस अवसर को भी हम जान सकें, जी सकें।

रवीन्द्रनाथ मरने के करीब थे तो किसी मित्र ने कहा, 'अब तुम परमात्मा से प्रार्थना कर लो कि दुबारा इस जीवन में न भेजे।' उन्होने आँखें खोल दीं, और कहा—''क्या कहते हो ? मैं परमात्मा से ऐसा कहूँ कि दोबारा मुझे इस जीवन में न भेजो ? इससे बड़ी परमात्मा की और निन्दा क्या होगी क्योंकि

उसने मुझे भेजा था ? मैं उससे ज्यादा समझदार हूँ कि कहूँ कि मुझे न भेजो ? नहीं, मेरे प्राणों के प्राण में एक ही गूँज है ! एक ही प्रार्थना है कि हे प्रभु ! तेरा जीवन तो बहुत सुन्दर था। अगर तूने मुझे योग्य पाया हो तो बार-बार वापस भेज देना और अगर तेरा जीवन मुझे सुन्दर नहीं मालूम पड़ा हो तो जिम्मा मेरा है। मेरे देखने के ढंग में भूल रही होगी। मेरे जीने के ढंग गलत रहे होंगे। मैं जीवन की कला नहीं जानता रहा होऊँगा। अगर तूने योग्य पाया हो तो वापस मुझे भेज देना। अगर मेरी पात्रता ठीक उतरी हो, अगर मैं तेरी कसौटी पर कस गया होऊँ तो मुझे बार-बार भेजना। तेरा जीवन बहुत सुन्दर है। तेरा चाँद सुन्दर था, तेरा सूरज सुन्दर था, तेरे लोग सुन्दर थे, सब सुन्दर था। अगर भूल कहीं हुई होगी तो मुझसे ही हुई होगी।

ऐसी जीवनदृष्टि चाहिए, जीवन से प्रेम करनेवाली। जीवन-विरोधी नहीं, जीवन के पक्ष में। जीवन का स्वीकार चाहिए, अस्वीकार नहीं। लेकिन भारत कर रहा है जीवन को अस्वीकार। उस अस्वीकार का फल है कि हमने सैकड़ों वर्षों की गुलामी भोगी। उस अस्वीकार का फल है कि पृथ्वी पर सबसे ज्यादा धन-धान्यपूर्ण होते हुए भी हम सबसे ज्यादा दीन और दरिद्र हैं। उस अस्वीकार का फल है कि इतनी बड़ी विराट शक्ति की सम्पदा पास होते हुए भी हमसे ज्यादा शक्तिहीन और नपुंसक आज पृथ्वी पर कोई भी नहीं है। उस अस्वीकार का फल यह है, और इसका जिम्मा उन सारे लोगों के ऊपर है जिन्होंने जीवन की अस्वीकृति हमें सिखाई, चाहे वे कितने ही बड़े ऋषि हों, चाहे कितने ही बड़े मुनि हों। लेकिन जिन्होंने हमें अस्वीकृति सिखाई है उन्होंने हमें आत्मघात भी सिखाया है, यह जान लेना। और जितनी जल्दी हम यह जान लें उतना अच्छा है।

एक रूसी यात्री ने भारत के संबंध में एक किताब लिखी है। मैं उस किताब को पढ़ रहा था तो मैंने समझा कि कोई मुद्रण की भूल हो गई होगी। उसमें उसने लिखा है कि भारत एक अमीर देश है जिसमें गरीब लोग रहते हैं। मैंने समझा कि जरूर कोई भूल हो गई, लेकिन फिर सोचने लगा तो खयाल आया कि बात तो शायद ठीक ही है। भारत गरीब नहीं है, लेकिन भारत के रहनेवाले दीन-हीन और गरीब हैं। उनकी दृष्टि ऐसी है जो उन्हें गरीब बना ही देगी। उनकी दृष्टि ऐसी है कि वे दीन-हीन हो ही जायँगे। अगर यही देश किसी और जीवन्त कौम को मिलता तो आज पृथ्वी पर इस देश से ज्यादा

धनी, इस देश से ज्यादा समर्थ और सुखी कोई हो सकता था? हमने क्या किया इस देश के साथ? जीवन के प्रति जो विरोधी हैं वे समृद्ध कैसे हो सकेंगे? वे जीवन की सम्पदा की खोज ही नहीं करते। वे तो जीवन को ढोते हैं बोझ की तरह। वे जीवन को हँसकर स्वीकार नहीं करते, रोते हुए झेलते हैं। हमारे जो साधु-संत विचार हमें देते हैं उनकी शक्लें जरा आप देखें, वे सब रोते हुए, उदास और सूखे हुए लोग मालूम पड़ते हैं। ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे असमय में कुँभला गया कोई फूल हो! हँसता हुआ संत हमने पैदा ही नहीं किया। हँसते हुए आदमी हमने पैदा नहीं किए। जैसे रोते हुए दिखायी पड़ना भी कोई बहुत बड़ी आध्यात्मिक योग्यता है! उदास और सूखा हुआ व्यक्तित्व हमें आध्यात्मिक मालूम पड़ता है।

हिन्दुस्तान में कुछ ऐसा समझा जाता है कि स्वस्थ होना गैरआध्यात्मिक होना है। यहाँ ऐसे साधुओं की परम्परा है जो कभी स्नान नहीं करते क्योंकि वे कहते हैं कि स्नान करना शरीर को सजाना है। स्नान करना शरीर की सेवा करनी है। और शरीर? शरीर है पाप का घर, शरीर से होना है मुक्त। यहाँ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें लिखा है कि साधु के शरीर पर अगर मैल जम जाय तो उसे हाथ से निकालने की मनाही है। अगर वह निकालता है तो वह शरीर-वादी (materialist) है। उसे लगे हुए मैल को निकालना नहीं है क्योंकि शरीर तो मैल का घर है, तुम्हारे निकालने से क्या होगा? शरीर को सुन्दर बनाने की चेष्टा क्यों? मजबूरी है कि शरीर को झेलना पड़ रहा है।

जिनकी दृष्टि ऐसी होगी वे जीवन को कैसे सुन्दर बना पायेंगे, जीवन को कैसे गति दे पायेंगे? वे संगीत के नए-नए रूपों पर जीवन को कैसे गतिमान करेंगे? कैसे नए शिखर खोजेंगे जहाँ जीवन और ऊँचा हो जाय, जहाँ जीवन और प्रीतिकर हो जाय, जहाँ जीवन और प्रेम बन जाय, प्रकाश बन जाय? नहीं, वे रुक जायेंगे, ठहर जायेंगे। जब जीवन ऐसा है, असार है, निन्दित है, छोड़ देने योग्य है तो उसे बदलने की क्या जरूरत है? ढो लो बोझ को किसी तरह, आयगी मौत और छुटकारा हो जायगा। किसी तरह बोझ को राम-राम कहकर सह लेना है। उसे बदलने का कोई सवाल नहीं है। जबतक यहाँ यह दृष्टि है भारत कभी क्रांतिकारी नहीं हो सकता।

दूसरा बिन्दु यह है कि भारत की सारी चिन्तना, सारी विचारणा, सारी प्रतिभा अतीतोन्मुखी है। अतीतोन्मुखी देश कभी भी गतिमान नहीं होता।

गतिमान वे होते हैं जो भविष्योन्मुखी हैं, जो आगे देख रहे हैं—आगे जहाँ अभी कुहासा छाया हुआ है और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। आगे जहाँ अभी सब शून्य है और सब निर्मित करना है। हम देख रहे हैं पीछे जहाँ सब निर्मित हो चुका है और हमें कुछ भी करने को शेष नहीं रहा है। अतीत में हम क्या कर सकते हैं ? अतीत वह है जो हो चुका, जो बीत चुका, जो पूरा हो चुका। अतीत के फल पक गए। अब उनमें कुछ होना नहीं है। अब हम लाख उपाय करके अतीत के साथ कुछ भी नहीं कर सकते। अतीत के साथ संबंधित भी नहीं हो सकते। अतीत जा चुका, वह मर चुका, वह हो चुका। अब उसमें करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहा है, लेकिन हम अतीत की तरफ ही देख रहे हैं जो मृत और स्थिर हो गया है। ऐसी जाति की चेतना भी जो अतीत को देखती रहेगी, धीरे-धीरे उतनी ही स्थिर और मृत हो जायगी तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि जो हम देखते हैं और जिसे हम आत्मसात् करते हैं और जो हमारे प्राणों के दर्पण में छवि बनाता है, धीरे-धीरे हमारे प्राण भी उसी रूप में ढल जाते हैं और निर्मित हो जाते हैं।

भविष्य की तरफ देखना उस अनजान और अज्ञात की तरफ देखना है, जो अभी हुआ नहीं, होने वाला है, जिसके साथ अभी कुछ किया जा सकता है। अभी हजार विकल्प हैं जिनमें से एक चुनना है, जिनमें से हम कोई भी चुन सकते हैं। हमें स्वतंत्रता है कि हम पूर्व जायँ कि पश्चिम, हम क्या करें और क्या न करें। अभी भविष्य को बनाना है इसलिए जो भविष्य की तरफ देखते हैं वे स्रष्टा हो जाते हैं, वे निर्माता हो जाते हैं। और जो अतीत की तरफ देखते हैं वे केवल द्रष्टा रह जाते हैं, क्योंकि अतीत को सिर्फ देखा जा सकता है और कुछ भी नहीं किया जा सकता। वे केवल दर्शक रह जाते हैं, तमाशबीन, जो देख रहे हैं अतीत के लम्बे इतिहास को कि राम हुए, कृष्ण हुए, महावीर हुए, बुद्ध हुए—और देखते चले जा रहे हैं और देखते चले जा रहे हैं। अतीत को देखने वाली कौम एक तमाशबीन कौम हो जाती है, भविष्य की तरफ देखने वाली कौम एक सर्जक कौम हो जाती है। तमाशबीन कैसे क्रांतिकारी हो सकते हैं ? स्रष्टा ही हो सकते हैं क्रांतिकारी। हमारी भविष्य की सारी चेतना अतीत में थिर हो गई है, एक रुग्ण घाव बन गया है और हम वहीं लौटकर देखते हैं। हमारी स्थिति वैसी है जैसे कोई कार में पीछे लाइट लगा ले। गाड़ी आगे चली और प्रकाश पीछे छूट गए रास्ते पर पड़े। जिन्दगी की गाड़ी आगे ही

चल सकती है, पीछे जाने का कोई मार्ग नहीं है। जिन रास्तों को हम पारकर आए, वे गिर गए और समाप्त हो गए, शून्य हो गए। जिस क्षण से गुजर गए हैं वे नहीं हैं, उनमें वापस नहीं जाया जा सकता है, उनमें लौटने का कोई उपाय नहीं। जाना तो आगे ही पड़ेगा, यह मजबूरी है, उससे विपरीत जाना असम्भव है।

भारत ऐसे ही चल रहा है। हम देख रहे हैं पीछे और चल रहे हैं आगे। तो रोज गिरते हैं, रोज गिरते जाते हैं और जितने ही गिरते हैं उतने ही घबराकर और पीछे की तरफ देखने लगते हैं और कहते हैं—देखो, राम कितने अच्छे थे, वे कभी नहीं गिरते थे। देखो, रामराज्य कितना अच्छा था। रामराज्य चाहिए, सतयुग चाहिए, जो बीत गया स्वर्णयुग, वह चाहिए, क्योंकि वे लोग कभी नहीं गिरते थे और हम गिर रहे हैं। इसका मतलब हुआ कि हम भ्रष्ट हो गए, हम पतित हो गए, इसलिए हम गिर रहे हैं। मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि हम इसलिए नहीं गिर गए हैं कि हम भ्रष्ट और पतित हो गए, बल्कि हम इसलिए गिर गए हैं कि हम पीछे की तरफ देख रहे हैं। और अगर राम नहीं गिरे थे तो वे इस बात का सुबूत हैं कि वे आगे की तरफ देखने वाले लोग रहे होंगे। हम पीछे की तरफ देख रहे हैं, इसलिए गिर रहे हैं। पीछे की तरफ देखने वाला कोई भी गिरेगा। जो भविष्य की तरफ देखता है वह वर्त्तमान को भी देखने लगता है क्योंकि भविष्य प्रतिपल वर्त्तमान बन रहा है। जो अतीत की तरफ देखता है वह वर्त्तमान को भूल जाता है। जब वर्त्तमान अतीत बन जाता है तभी वह उसको देखता है। वर्त्तमान वह बिन्दु है जहाँ से भविष्य अतीत बनता है। अगर आप भविष्योन्मुखी हैं तो आप भविष्य को देखेंगे और बनते हुए भविष्य को देखेंगे जो वर्त्तमान में आ रहा है। अगर आप अतीतोन्मुखी हैं तो आप अतीत को देखेंगे और उस वर्त्तमान को देखेंगे जो अतीत बन गया है। लेकिन जो अतीत बन गया है वह हाथ के बाहर हो गया है। वे पक्षी उड़ चुके, अब कोई उपाय नहीं रहा। अब हम कुछ भी नहीं कर सकते। इसलिए भारत के मन में एक भाव पैदा हो गया कि कुछ भी नहीं किया जा सकता। एक भाग्यवादी रुख पैदा हो गया है कि कुछ भी नहीं किया जा सकता। जो हो गया, वह हो गया, अब कुछ उपाय नहीं है। धीरे-धीरे यह बात हमारे प्राणों में इतनी गहरी बैठ गई है कि कुछ भी नहीं हो सकता। जो भविष्य को देखेगा उसे लगेगा कि सब कुछ हो सकता है,

अभी कुछ भी हो नहीं गया है, अभी सब होने को है। अभी हाथ में है बात। अभी पैर उठाना है मुझे। मैं निर्णायक हूँ कि किस रास्ते पर पैर उठाऊँ। हजार रास्ते खुलते हैं और चुनाव मेरे हाथ में है। मुझे तय करना है कि मैं किस रास्ते पर जाऊँ।

भविष्योन्मुखी व्यक्ति भाग्यवादी नहीं होता, वह पुरुषार्थवादी होता है। अतीतोन्मुखी भाग्यवादी हो जाता है। भाग्यवाद में क्रांति के लिए कोई संभावना नहीं। पुरुषार्थवादी दृष्टि हो तो क्रांति की संभावना है। इसलिए दूसरा सूत्र आपसे कहना चाहता हूँ कि जबतक हम अतीत से घिरे और बँधे हैं तबतक हम क्रांति के लिए मुक्त नहीं हो सकेंगे। जो जा चुका उस अतीत को जाने दें, अब उसे रोक कर मत पकड़ें। आपके रोकने से वह रुकेगा नहीं। वह तो जा चुका, वह बीत चुका, उसे बीत जाने दें। आपको जाना है आगे।

जिब्रान ने एक छोटी-सी बात कही है। किसी ने उससे पूछा कि हम अपने बच्चे को प्रेम करें या न करें? तो जिब्रान ने कहा कि तुम अपने बच्चे को प्रेम करना, लेकिन कृपा करके अपना ज्ञान उन्हें मत देना। क्योंकि बच्चे उस जगत को जानेंगे जो तुमने नहीं जाना और तुमने जो जाना है उसको बच्चे अब कभी भी नहीं जानेंगे, वह जा चुका। तो उन्हें उससे मत बाँध लेना जो तुम्हारा ज्ञान है। अपना प्रेम देना और उन्हें मुक्त करना और उन्हें समर्थ बनाना कि वे अतीत से मुक्त हो सकें ताकि भविष्य का साक्षात्कार कर सकें।

और हम क्या कर रहे हैं हजारों वर्षों से? हम यह कर रहे हैं कि प्रेम हम चाहे बिलकुल न दे पायें लेकिन ज्ञान पूरी तरह दे देना है। प्रेम की झंझट में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है लेकिन ज्ञान पूरा का पूरा दे देना है, रत्ती-रत्ती दे देना है। जो जाना है पिछली पीढ़ी ने उसको पूरी तरह थोप देना है बच्चे के मन पर। उसके मन को ऐसा बना देना है कि वह कभी भी भविष्य के लिए ताजा और नया न रह सके और उसके पास की सब ताजगी, सब नयापन, नए के अनुभव की क्षमता और साहस—सब खो जाय।

शायद आपने सुना हो, लाओत्से नाम का एक आदमी चीन में हुआ। लोग कहते हैं वह बूढ़ा ही पैदा हुआ, अस्सी साल का ही पैदा हुआ। कहानी ऐसी है कि लाओत्से जब माँ के पेट में था और नौ महीने पूरे हुए और पैदा होने का वक्त आया तो उसे बहुत डर लगा क्योंकि माँ का पेट परिचित था, नौ महीने तक वह उसमें बड़ी शांति से रहा था। सब सुविधा थी। पता नहीं

माँ के पेट के बाहर जो दुनियाँ हो वह कैसी हो ? मित्र हो कि शत्रु ? भोजन मिले न मिले ? लाओत्से डर गया और उसने पैदा होने से इन्कार कर दिया और वह ८० साल तक माँ के पेट में ही बना रहा इस डर से कि जिन्दगी पता नहीं कैसी हो ! वह बूढ़ा हो गया और उसके बाल सफेद हो गए। जब माँ मरने के करीब आई तो लाओत्से को पैदा होना पड़ा। फिर कोई उपाय न था। तो लाओत्से पैदा हुआ लेकिन सफेद दाढ़ी वाला आदमी, बूढ़ा आदमी !

कहानी तो कहानी है। ऐसा हुआ तो नहीं होगा, लेकिन चेतना के तल पर ऐसी घटनाएँ घटती हैं। भारत में कोई बच्चा, बच्चा पैदा नहीं होता। पैदा होते ही बूढ़ा हो जाता है। उसे बूढ़ा कर दिया जाता है, उसके बचपन को तोड़ दिया जाता है। उसे बुढ़ापे की गंभीरता दे दी जाती है, उसे बूढ़ेपन के खयाल दे दिए जाते हैं। उसे बूढ़े का भय दे दिया जाता है, उसे बूढ़े की सुरक्षा दे दी जाती है। और फिर वह कभी न बच्चा होता है, न जवान होता है, वह करीब-करीब बूढ़ा ही रहता है। यह जो बुढ़ापा है, यह अतीत की तरफ देखने से पैदा हुआ है, भविष्य की तरफ हम देखेंगे तो फिर हम बच्चे की तरह हो जायँगे। इस जाति की चेतना को फिर बालपन की जरूरत है, फिर बच्चे-जैसे हो जाने की जरूरत है। क्रांति का यह अर्थ है कि हर पीढ़ी फिर नई हो जाय और हर पीढ़ी फिर जीवन का नया साक्षात् करने को निकल पड़े—नई खोज में, नई यात्रा में, अज्ञात में, खतरे को मोल लेने लगे और खतरे में जीने लगे।

नीत्से कहता था, मैंने जीवन में एक ही सूत्र पाया। जिन्हें जीवित रहना है और जीवन का पूरी तरह अर्थ जानना है उनके लिए एक ही सूत्र है—खतरे में जियो (live dangerously)! एक फूल वह भी है जो आपके घर में पैदा होता है, आप घर के कोने में एक फूल लगा लेते हैं। एक फूल वह भी है जो पहाड़ के दरार में पैदा होता है। आकाश के बादल उसे टक्कर मारते हैं और हवाओं के तूफान उसकी जड़ों को हिलाते हैं और वह एकांत नीरव पहाड़ के कोने पर खड़ा होता है। वह प्रति पल मरने को तैयार है और उस प्रति पल मरने की तैयारी में ही जीवन का रस है और आनन्द है। घर के कोने में पैदा हुए फूलों को कुछ भी पता नहीं है कि पहाड़ों के किनारों पर जो फूल खिलते हैं उनका आनन्द क्या है, उनकी

चुनौती क्या है, वे क्या जान पाते हैं ? घरों की सुरक्षा में बैठे हुए लोगों को कुछ भी पता नहीं है उन लोगों का, जो गौरीशंकर के शिखरों पर चढ़ते हैं, जो प्रशांत समुद्र की गहराइयों को नापते हैं, जो उत्ताल तरंगों में जीवन और मौत से खेलते हैं। उन्हें कुछ भी पता नहीं कि जीवन के और भी अर्थ हैं, जीवन की और भी प्रेरणाएँ हैं, जीवन की और भी धन्यताएँ हैं। उन्हें कुछ भी पता नहीं। उन्हें पता हो भी कैसे सकता है ?

अकबर के दरबार में एक दिन दो जवान राजपूत आ गए थे। नंगी तलवारें उनके हाथ में थीं। दोनों जवान हैं, दोनों जुड़वाँ भाई हैं। दोनों की सूरतें देखने-जैसी हैं। उनकी चमक, उनकी प्रफुल्ल जिन्दगी। वे अकबर के सामने खड़े हो गए हैं। अकबर ने कहा, "तुम क्या चाहते हो ?" उन्होंने कहा, "हम नौकरी की तलाश में निकले हैं। हम बहादुर आदमी हैं, कोई बहादुरी की नौकरी चाहते हैं।" अकबर ने पूछा, "बहादुरी का कोई प्रमाणपत्र लाये हो ?" उन दोनों की आँखों में जैसे आग चमक गई। उन्होंने कहा, "आप पागल मालूम होते हैं। दूसरे के प्रमाण पत्र वे ले जाते हैं जो कायर हैं। हम किसका लायेंगे ? बहादुरी का प्रमाण पत्र नहीं है, प्रमाण दे सकते हैं।" अकबर ने कहा, "दे दो, प्रमाण पत्र क्या है ?" और एक क्षण में दो तलवारें चमकीं और एक दूसरे की छाती में घुस गई। वे दोनों जवान नीचे पड़े थे और खून के फव्वारे छूट रहे थे। उनके चेहरे कितने प्यारे थे ! अकबर तो एकदम घबरा गया। उसने तो यह सोचा भी नहीं था कि यह हो जायगा। उसने अपने राजपूत सेनापतियों को बुलाया और कहा कि बड़ी भूल हो गई। यह क्या हुआ ? उन सेनापतियों ने कहा, "आपको पता नहीं, राजपूत से बहादुरी का प्रमाण पूछते हैं ? राजपूत के पास बहादुरी का इसके सिवा क्या प्रमाण है कि वह प्रतिपल मौत के साथ जूझने को तैयार है ? और बहादुरी का प्रमाण हो भी क्या सकता है ? जिन्दगी का इसके सिवा और क्या प्रमाण है कि वह मौत से लड़ने को हर घड़ी राजी है ?"

भारत मर गया है। उसने मौत से लड़ने की तैयारी छोड़ दी है। तीसरी बात आपसे कहना चाहता हूँ—भारत ने मौत से लड़ने की तैयारी छोड़ दी है हजारों साल से और इसलिए जिन्दगी कुँभला गई और मर गई। जिन्दगी जीतती है मौत की चुनौती में; जहाँ मौत प्रतिपल है वहाँ जिन्दगी विकसित होती है। मौत की चुनौती में ही जिन्दगी का जन्म है। लेकिन हमने बहुत

पहले मौत से लड़ना छोड़ दिया और बड़ी तरकीब से लड़ना छोड़ा। हम बड़े चालाक लोग हैं। हमसे बुद्धिमता और होशियारी में दुनिया में शायद कोई न जीते। हमें मौत का इतना डर है कि हमने यह सिद्धांत बना लिया कि आत्मा अमर है, आत्मा मरती नहीं। इससे आप यह न सोचें कि हमको पता चल गया है कि आत्मा अमर है। हमें कुछ पता नहीं है, हम मौत से इतने भयभीत हैं कि हम कोई सांत्वना चाहते हैं कि कोई सिद्ध कर दे कि आत्मा अमर है तो मौत का डर हमारे दिमाग से मिट जाय। यहाँ ये दोनों बातें एक साथ घटित हो गईं। हमसे ज्यादा मौत से डरने वाला कोई है आज पृथ्वी पर? और हम हैं आत्मा की अमरता को माननेवाले लोग। इन दोनों में आपको कोई संगति दीखती है? जो आत्मा को अमर मानते थे उनके लिए मौत तो खत्म हो गई थी, वे तो इस सारी दुनिया में मौत को खोजते हुए घूम सकते थे। वे आमंत्रण दे सकते थे कि मौत आ, लेकिन हम कहीं नहीं गए घर की दीवालों को छोड़कर। हम हमेशा डरे हुए रहे हैं। हमारे प्राणों के गहरे से गहरे में मौत का भय है। उस भय को मिटाने के लिए हम यह दोहराते हैं कि आत्मा अमर है, आत्मा अमर है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि आत्मा अमर नहीं है, लेकिन आत्मा का पता उन्हें चलता है जो मौत से जूझते हैं और मौत से गुजरते हैं! घर में बैठकर और किताबों से सूत्र निकालकर कि आत्मा अमर है, आत्मा अमर है, इसका जाप करने से आत्मा की अमरता का पता नहीं चलता। युद्ध के मैदानों में शायद किसी-किसी को आत्मा की अमरता का पता चल जाता हो लेकिन घर के पूजागृहों में दरवाजे बन्द करके, धूप-दीप जलाकर जो पाठ करते हैं कि आत्मा अमर है उनको कभी भी पता नहीं चलता। आत्मा की अमरता का अनुभव वहीं होता है जहाँ मौत चारों तरफ खड़ी हो। स्कूल में अध्यापक बच्चे को पढ़ाता है, तो सफेद दीवाल पर नहीं लिखता सफेद खल्ली से, क्योंकि सफेद दीवाल पर खल्ली से लिखा हुआ कुछ भी दिखाई नहीं पड़ेगा। वह लिखता है काले तख्ते पर। क्यों? क्योंकि काले तख्ते पर ही सफेद रेखाएँ उभरती हैं और दिखाई पड़ती हैं। मौत से जूझने में ही अमरता का पहला अनुभव होता है। मौत की पृष्ठभूमि में ही अमरता के पहली बार दर्शन होते हैं। मौत की काली दीवारों में ही अमरता की शुभ्र रेखाएँ चमकती है और पता चलता है कि मृत्यु नहीं है। लेकिन हम मृत्यु नहीं है, मृत्यु नहीं है, अमर है, अमर है—इसका जाप कर रहे है और

पूरे वक्त डर रहे हैं और उसी डर की वजह से जाप कर रहे हैं।

जो भीतर कायर बैठा है डरा हुआ आदमी, उसको पता चलता है कि रात अँधेरी है, मैं अकेला चला जाता हूँ। इन्हें—जो कह रहे हैं आत्मा अमर है, आत्मा अमर है, आत्मा की अमरता का कोई पता नहीं है। ये डर को छिपाने की कोशिश कर रहे हैं, ये डर को दबाने की कोशिश कर रहे हैं। आत्मा की अमरता के सिद्धान्त में ये छिपा लेना चाहते हैं उस भय को, जो जीवन के प्रतिपल मौत में होने से प्रकट होता है। लेकिन जो ऐसा मान लेंगे कि आत्मा अमर है, वे जिन्दगी का जो प्रतिपल बदलता हुआ रूप है, उसके रस को खो देंगे। जिन्दगी तो प्रतिपल मृत्यु के किनारे खड़ी है, किसी भी क्षण मौत हो सकती है। एक पत्थर का टुकड़ा है, वह पड़ा हुआ है सैकड़ों वर्षों से आँगन के किनारे, और एक फूल आज सुबह ही खिला है। फूल और पत्थर में कौन है प्रीतिकर आपको ? कौन खींच लेता है प्राणों को ? पत्थर नहीं, फूल। क्योंकि फूल प्रतिक्षण मृत्यु से जूझ रहा है, साँझ तक मौत आ जायगी और फूल का जीवन विलीन हो जायगा। पत्थर फिर भी पड़ा रहेगा। फूल का सौन्दर्य कहाँ से आ रहा है ? फूल का सौन्दर्य आ रहा है, पृष्ठभूमि में खड़ी हुई मौत से उसके जूझने से। कितनी अद्भुत है यह दुनिया। एक छोटा-सा फूल भी चौबीस घंटे मौत से लड़ पाता है। छोटा-सा फूल, नाजुक और मौत से जूझ लेता है चौबीस घंटे ! उसी जूझने में उसे पता चलता है कि मिट जायगी देह, गिर जायँगी पंखुड़ियाँ, लेकिन मैं फिर भी रहूँगा क्योंकि मौत मुझे कैसे मिटा सकती है ? उस जूझने से ही यह बल, उस जूझने से ही यह शक्ति और यह अनुभव आता है कि मौत मुझे नहीं मिटा सकती। गिर जायँगी पंखुड़ियाँ, गिर जायगी देह, लेकिन मैं ? मैं फिर भी हूँ और फिर भी रहूँगा।

मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि भारत को मौत का साक्षात्कार करना है। छोड़ देने हैं सिद्धान्त, अमर जिन्दगी को देखनी है और जिन्दगी जरूर वहीं है जहाँ मौत है। उससे जूझना है, लड़ना है। बीमारियों से लड़ना है, गरीबी से लड़ना है। आप गौर करें जरा, मौत से जो कौम नहीं लड़ती वह गरीबी से कैसे लड़ेगी ? बीमारी से कैसे लड़ेगी ? गरीबी और बीमारी मौत की शक्लें हैं। हम बड़े होशियार लोग हैं। हम तो गरीब को कहते हैं, दरिद्रनारायण, तो नारायण को कैसे मिटायेंगे ? प्लेग नारायण, मलेरिया

नारायण, तो फिर उसको मिटायँगे कैसे ? तो उनकी पूजा करो। वैसे देवी-देवताओं की कमी नहीं हैं यहाँ; और देवी-देवता बिठा लो। दरिद्रता है महामारी, गरीबी है बीमारी, गरीबी है मौत। उनको मिटा देना है, लेकिन जिन लोगों ने मौत को ही स्वीकार कर लिया है आत्मा की अमरता की बातें करके, गरीबी को भी स्वीकार कर लिया है बीमारी को भी स्वीकार कर लिया है, उन्होंने लड़ाई छोड़ दी क्योंकि लड़ाई में डर है, लड़ाई में मर जाने का भय है। कौन लड़े, कौन जूझे ? अपने घर में बैठो, चुपचाप रहो, शांति से जियो, जो होता है होने दो। मुल्क गुलाम बने, बनने दो, बीमारी आवे आने दो, गरीबी आवे आने दो, यह सब भाग्य है, लड़ने से कुछ भी नहीं होगा ! अपने को बचा लो उतना ही काफी है। हम अपने को भी कहाँ बचा पाए ? वह सारी चिन्तना भ्रांत सिद्ध हुई। लेकिन अब तक वह भ्रम हमारा टूटा नहीं है। मौत के जितने रूप हैं हमें उन सबसे लड़ाई लड़नी हैं और अमरता के सिद्धांत में छिपकर बैठ नहीं जाना है। निश्चित ही जिन्दगी अमर है लेकिन उनको ही पता चलती है जो मौत से जूझते हैं और संघर्ष करते हैं।

चौथी बात आपसे कहना चाहता हूँ कि इस देश में हमने अब तक आनन्द के लिए, खुशी के लिए, रस के लिए कोई उद्‌भावना खड़ी नहीं की। हमारा सारा चिन्तन दुखवादी है, निराशावादी है। इसके पहले कि कोई जिन्दगी में चले, निराशा उसे पकड़ लेती है, घनघोर अंधकार उसे घेर लेता है। पहले से ही हम जान लेते हैं कि जीत असम्भव है। जीवन दुख है, जन्म दुख है, जवानी दुख है, प्रेम दुख है, सुख यहाँ कहीं भी नहीं है।

मैंने सुना है, एक दिन स्वर्ग के रेस्तरां में—वहाँ भी रेस्तरां तो होंगे ही—बुद्ध, कंफ्यूशियस और लाओत्से का मिलना हुआ। तीनों बैठकर गप-शप कर रहे हैं और तभी एक अप्सरा हाथ में एक सुराही लिये हुए नाचती हुई आई और उसने कहा, "आप लोग जीवन का रस पियेंगे ?" जीवन का रस ? बुद्ध ने तो सुनते ही आँखें बन्द कर लीं, और कहा, "जीवन दुख है, असार है, कोई रस नहीं है जीवन में।" लेकिन कंफ्यूशियस आधी आँख खोलकर देखने लगा। उसने कहा, "जीवन का रस ? लेकिन बिना पिये मैं कैसे कुछ कहूँ ? थोड़ा चखना जरूरी है।" कंफ्यूशियस हमेशा मध्यमार्गी था। आधी आँख खोलता था, आधी आँख बन्द रखता था। 'गोल्डेन मीन' का सिद्धान्त उसने ही विकसित

किया दुनिया में कि हमेशा बीच में रहो, न इस तरफ, न उस तरफ। बुद्ध तो एकदम आँख ही बन्द कर लिये, कि नहीं, दुख है जीवन। उसमें क्या रहा ? कड़वा और तिक्त। नहीं ! उसे नहीं पीना है। लेकिन लाओत्से पूरी आँख खोलकर उस अप्सरा को देखने लगा, वह बहुत सुन्दर थी। उसकी सुराही को देखने लगा उसपर बड़े बेलबूटे खुदे थे। जरूर उसके भीतर कुछ रस होगा और वह खड़ा होकर नाचने लगा। कंफ्यूशियस ने एक प्याली में थोड़ा-सा रस लिया और चखा और कहा, "नहीं, न बेस्वाद है, न स्वादपूर्ण है, मध्य में है। वे भी ठीक हैं जो पीते हैं, वे भी ठीक हैं जो नहीं पीते हैं क्योंकि कोई खास बात नहीं।" लेकिन लाओत्से ने तो नाचते हुए पूरी सुराही हाथ में ले ली और कहा कि सिर्फ स्वाद चखने से क्या पता चलता है जबतक कि पूरा न पी जाओ, और वह पूरी सुराही पी गया। बुद्ध आँख बन्द किए बैठे रहे, कंफ्यूशियस आधी आँखें खोले रहा और लाओत्से नाचने लगा और गीत गाने लगा और कहने लगा—नासमझ हो तुम, जिन्दगी पूरी पीते तभी पता चल सकता कि क्या है। और अब मैंने पूरी पी ली है लेकिन मैं कहने में असमर्थ हूँ क्योंकि जीवन के स्वाद को चखा तो जा सकता है लेकिन कहा नहीं जा सकता।

भारत ने जीवन के स्वाद को चखा ही नहीं। हमने आनंद की उद्भावना नहीं की, हमने दुख की उद्भावना की। हमने प्रकाश को अवतीर्ण करने की चेष्टा नहीं की, अंधकार को स्वीकार किया। हमने कोई विधायक दृष्टिकोण न लिया, केवल निषेधात्मक वृत्ति पकड़ ली। जो चलने के पहले जानती है कि हार जायेंगे, लड़ने के पहले जानती है कि जीत असंभव है, ऐसी कौम कैसे क्रांति ला सकती है ?

जापान के एक छोटे-से राज्य पर एक बड़े राज्य ने हमला बोल दिया था। राज्य था छोटा, सेनाएँ थीं कम। सेनापति घबरा गया और उसने राजा को जाकर कहा कि युद्ध में सेनाओं को ले जाना पागलपन है। दुश्मन दसगुनी ताकत का है, हार निश्चित है। लोगों को क्यों कटवाना है ले जाकर, व्यर्थ उनकी हत्या का दोष अपने ऊपर मैं नहीं लूँगा। मुझे आप छुट्टी दे दें। मुझे यह नौकरी नहीं चाहिए, मैं नहीं ले जा सकता हूँ सेनाओं को युद्ध में। यह सीधी हार है, न हमारे पास साधन है, न सामग्री है, न सैनिक हैं।

राजा भी जानता था कि बात सत्य है। फिर राजा को खयाल आया कि एक फकीर है उस गाँव में। कई बार जब चीजें उलझ गई थी तो राजा उसके

तलवार से बड़ी है। हाथ में तलवार हो और प्राणों में गीत न हो तो जीत कभी नहीं होती और वैसी जीत हो भी जाय तो हार से बदतर होती है। जीत भी जाते हैं और जीत का कोई आनन्द भी प्राणों को स्पर्श नहीं कर पाता।

वे युद्धक्षेत्र के निकट पहुँच गए, सीमा की नदी आ गई। उस पार दुश्मन पड़ा है, इस पार वे पहुँच गए। सुबह के सूरज की रोशनी बरसती है और एक मंदिर का कलश दिखाई पड़ता है। नदी के इसी पार मंदिर है। वह फकीर रुक गया वहाँ और उसने सैनिकों से कहा, "रुको दो क्षण, मैं जरा इस मंदिर के देवता से पूछ लूँ। हमेशा की मेरी यह आदत रही है, जब भी किसी काम को करने जाता हूँ इससे पूछ लेता हूँ कि जीत होगी या हार? कर पाऊँगा कि नहीं? तो पूछ लें इससे। अगर यह कह देगा कि जीत होगी तो फिर दुनिया में किसी की फिक्र नहीं। तुम चाहो न भी जाना, मैं अकेला ही चला जाऊँगा। लेकिन अगर इस देवता ने कह दिया कि जीत नहीं होगी तो नमस्कार! न मैं जाने वाला हूँ, न तुम। सब वापस लौट चलेंगे। क्योंकि जब देवता राजी न हो तो क्या फायदा।" सैनिकों ने कहा, "वह तो हम समझ गए, लेकिन हमें कैसे पता चलेगा कि देवता क्या कह रहा है? आप ही व्याख्याकार रहेंगे। तो हमें कैसे पता चलेगा कि देवता जो कह रहे हैं वही आप हमें बता रहे हैं?" उसने कहा, "नहीं, अकेले में नहीं पूछूँगा, देवता से तुम्हारे सामने ही पूछूँगा।" उसने जेब से एक चमकता हुआ सोने का रुपया निकाला और कहा, "हे मंदिर के देवता, मैं यह रुपया फेंकता हूँ। यह अगर सीधा गिरा तो हम युद्ध में चले जायँगे, समझेंगे कि तूने कहा कि जीत होगी। अगर रुपया उलटा गिरा, तो हम वापस लौट जायँगे।" उन सैनिकों की आँखें टँगी रह गईं। रुपया ऊपर गया, सूरज की रोशनी में चमका। वे सब देख रहे हैं, उनकी साँसे रुक गई हैं, उनके जीवन-मरण का सवाल है। फिर रुपया नीचे गिरा और उनके प्राण भी चमक गए। रुपया सीधा गिरा और उस फकीर ने कहा, "अब हारने का सवाल नहीं, अब बात खत्म हो गई। अब बात तय हो चुकी।" रुपया उसने झोली में डाल लिया और वे युद्ध के मैदान में चले गए।

दस दिन बाद वे जीत कर दसगुनी ताकत से लौटे। जब मंदिर के पास आ गए तो सैनिकों ने कहा, "रुको, मंदिर के देवता को धन्यवाद दे दें जिसने हमें जिताया।" उस फकीर ने कहा, "छोड़ो! देवता का इसमें कोई हाथ नहीं है। अगर धन्यवाद देना है तो मुझी को दो।" लोगों ने कहा, "नहीं

नहीं ! ऐसा कैसे कहते हैं आप ? देवता ने ही तो हमको कहा था कि जाओ, जीत आओगे।" उसने कहा, "तुम्हें पता नहीं, देवता बेचारे का इससे संबंध ही नहीं है।" उसने जेब से रुपया निकाला और सैनिकों को हाथ में दे दिया। वह सिक्का दोनों तरफ सीधा था।

भारत का पूरा इतिहास ऐसे सिक्के को पकड़े हुए है जो दोनों तरफ उलटा है। इसलिए क्रांति इस मुल्क में नहीं हो पाती। लेकिन क्रान्ति हो सकती है, होनी चाहिए, इसके अतिरिक्त हमारा कोई भविष्य नहीं है, हमारा कोई भाग्य नहीं है। लेकिन जबतक हम इन बुनियादी सूत्रों पर भारत की आत्मा को न बदल दें तबतक हमारी कोई सामाजिक क्रांति, कोई आर्थिक क्रांति, कोई राजनीतिक क्रांति कुछ मूल्य नहीं रखेगी। भारत में क्रांति की जरूरत है, लेकिन कैसी क्रांति की ? आध्यात्मिक क्रांति की ? अबतक जीवन के जो मूल्य रहे हैं वे गलत थे। नए मूल्य स्थापित करने हैं, उसके बाद ही राजनीतिक क्रांति भी सार्थक होगी और आर्थिक क्रांति भी सार्थक होगी, सामाजिक क्रांति भी सार्थक होगी। लेकिन अगर हमने उन मूल्यों को नहीं बदला जिनपर हमारे प्राण अब तक रहे हैं तो हमारी और सारी क्रांतियाँ पोच सिद्ध होंगी, उनसे कुछ परिवर्तन होने वाला नहीं।

कि परमात्मा की खोज के लिए। और वह व्यक्ति जो पहाड़ से नीचे की तरफ उतरा आ रहा था यह सुनकर बहुत जोर से हँसने लगा और उसने कहा, क्या यह भी हो सकता है कि तुम्हें अभी तक वह दुःखद समाचार नहीं मिला ? उस बूढ़े आदमी ने पूछा, कौन-सा समाचार ? तो उस व्यक्ति ने कहा कि क्या तुम्हें अभी तक पता नहीं कि ईश्वर मर चुका, तुम किसे खोजने जा रहे हो ? क्या जमीन पर और नीचे मैदानों में अबतक यह खबर नहीं पहुँची कि ईश्वर मर चुका ? मैं पहाड़ से आ रहा हूँ और मैं भी ईश्वर को खोजने गया था लेकिन वहाँ जाकर मैंने भी ईश्वर को नहीं, ईश्वर की लाश को पाया। और क्या दुनिया तभी विश्वास करेगी जब उसे अपने से दफना देगी ? क्या यह खबर अबतक नहीं पहुँची ? मैं वही खबर लेकर नीचे उतर रहा हूँ कि मैदानों में जाऊँ और लोगों को कह दूं कि पहाड़ों पर जो ईश्वर रहता था वह मर चुका है। लेकिन उस बूढ़े आदमी ने विस्वास नहीं किया। साधारणतया कोई मर जाय तो उसकी बात पर हम विश्वास नहीं, करते ईश्वर के मरने पर कौन विश्वास करता है ? उस बूढ़े आदमी ने समझा कि युवक पागल हो गया है। वह अपने रास्ते पर बिना कुछ कहे पहाड़ पर चढ़ने लगा। उस युवक ने सोचा कि अजीब है यह आदमी, जिसे खोजने जा रहा है वह मर चुका है और फिर भी खोज को जारी रखना चाहता है, लेकिन वह नीचे की तरफ उतरता रहा। रास्ते में और एक साधु मिला जो आँखें बन्द किए हुए किसी के ध्यान में लीन था। उस युवक ने उसे झकझोरा और पूछा कि किसका चिन्तन करते हो, किसका ध्यान करते हो ? उसने कहा कि परमात्मा का ध्यान करता हूँ। वह युवक हँसा और बोला, "मालूम होता है यह खबर ले जाने का दुखद काम मुझे ही करना पड़ेगा कि तुम जिसका ध्यान कर रहे हो वह बहुत समय हुआ मर चुका। उसके ध्यान करने से कुछ भी नहीं होगा। अब उसके स्मरण करने से कुछ भी नहीं होगा और अब उसके गीत और प्रार्थनाएँ कोई भी फल नहीं लायँगी, क्योंकि मुर्दा आदमी कुछ नहीं कर सकता, मुर्दा परमात्मा भी क्या करेगा ?" वह युवक और नीचे उतरा। उसी पहाड़ पर मैं भी गया था और मेरी भी उससे मुलाकत हुई। वही मैं आपसे कहना चाहता हूँ। उस आदमी ने मुझसे भी पूछा कि कहाँ जाते हो ?। इसके पहले कि मैं उसको कोई उत्तर देता, मैंने भी पूछा, "तुम कहाँ जाते हो ?" उसने कहा, "एक खबर मेरे पास है। उसे दुनिया को मुझे कहना है।" उसने कहा ईश्वर मर गया है,

तुम्हें पता चला ? मैंने उस आदमी से कहा कि मेरे पास भी एक खबर है और मुझे भी वह दुनियाँ से कहनी है। क्या तुम्हें पता है कि जो ईश्वर मरा है वह ईश्वर था ही नहीं, एक झूठा ईश्वर मर गया है ? कुछ लोग उस झूठे ईश्वर के जिन्दा होने के खयाल में हैं और कुछ लोग उस झूठे ईश्वर के मर जाने के खयाल में हैं। लेकिन जो सच्चा ईश्वर था वह अब भी है और हमेशा रहेगा। तुम एक खबर दुनिया को देना चाहते हो और मैं भी एक खबर देना चाहता हूँ कि जो मर गया है वह सच्चा ईश्वर नहीं था क्योंकि जो मर सकता है वह जीवित ही न रहा होगा। जीवन का मृत्यु से कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ जीवन है वहाँ मृत्यु नहीं है। और जहाँ मृत्यु हो, जानना कि जीवन भ्रामक था और झूठा था, कल्पित था, मृत्यु ही सत्य थी। वह जो मरा हुआ है वही केवल मरता है। जो जीवित है उसके मरने की कोई सम्भावना नहीं है। जीवन के मर जाने से ज्यादा असम्भव बात और कोई नहीं हो सकती। ईश्वर तो समग्र जीवन का नाम है।

वह आदमी दुनिया के कोने-कोने में अपनी खबर कहता फिरता है। मुझको भी उसका पीछा करना पड़ रहा है। जहाँ वह जाता है, मुझे भी वहाँ जाना पड़ता है। जरूर आप से भी उसने यह बात आकर कही होगी कि ईश्वर मर गया। बहुत तरकीबें हैं उस बात के कहने की, बहुत से रास्ते-हैं, बहुत-सी व्यवस्थाएँ हैं। बहुत ढंगों से आप तक भी यह खबर निश्चित ही पहुँच गई होगी कि ईश्वर मर चुका है।

मैं आप से दूसरी बात कहना चाहूँगा। वह यह कि जो ईश्वर मर चुका है वह जिन्दा ही नहीं था। कुछ लोगों ने उसे एक झूठा ही जीवन दे रखा था और अच्छा ही हुआ कि वह मर गया। अच्छा ही होता कि वह कभी पैदा ही न होता, और अच्छा हुआ होता कि वह बहुत पहले मर गया होता। तो यह खबर सुखद है, दुखद नहीं। लोगों ने आपसे बहुत रूपों में कहा होगा—कि धर्म की मृत्यु हो गई है। यह बहुत अच्छा हुआ है। क्योंकि जो धर्म मर सकता है, उसे मर ही जाना चाहिए। उसे जिन्दा रखने की कोई जरूरत नहीं है और जब तक झूठा धर्म जिन्दा रहेगा और झूठा ईश्वर जीवित मालूम पड़ेगा तबतक सच्चे ईश्वर को खोजना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि सच्चे ईश्वर और हमारे बीच में झूठे ईश्वर के अतिरिक्त और कोई भी खड़ा नहीं है। मनुष्य और परमात्मा के बीच एक झूठा परमात्मा खड़ा हुआ है, मनुष्य

और धर्म के बीच अनेक झूठे धर्म खड़े हुए हैं। वे गिर जायँ, वे जल जायँ और नष्ट हो जायँ तो मनुष्य की आँखें उसकी तरफ उठ सकती हैं जो सत्य है और परमात्मा है।

(कौन-सा ईश्वर झूठा ईश्वर है ? मन्दिरों में जो पूजा जाता है वह ईश्वर झूठा है, क्योंकि उसका निर्माण मनुष्य ने किया है। मनुष्य ईश्वर को बनाये, इससे ज्यादा झूठी और कोई बात नहीं हो सकती। ईश्वर ने मनुष्य को बनाया होगा, यह तो हो भी सकता है, लेकिन यह कैसे हो सकता है कि मनुष्य ईश्वर को बना ले। लेकिन जितने प्रकार के मनुष्य हैं उतने प्रकार के ईश्वर हमने निर्मित कर लिये हैं और जितने प्रकार के मनुष्य हैं उतने ही प्रकार के मन्दिर हैं, उतने ही प्रकार की मस्जिदें हैं, उतने ही प्रकार के गिरजाघर हैं, और न मालूम क्या हैं। हम सबने मिलकर न मालूम कितने प्रकार के ईश्वर ईजाद कर लिये हैं, ये ईश्वर निश्चित ही झूठे हैं।) ईश्वर ईजाद नहीं किया जा सकता, इनवेंट नहीं किया जा सकता। कोई न तो उसे पत्थर के द्वारा निर्मित कर सकता है और न शब्दों के द्वारा और न रंगों के द्वारा और न रेखाओं के द्वारा। क्योंकि जो भी हम निर्मित कर सकेंगे वह हमसे भी ज्यादा कच्चा और हमसे भी ज्यादा झूठा और हमसे भी ज्यादा क्षणभंगुर होगा।

मनुष्य ईश्वर का निर्माण नहीं कर सकता लेकिन ईश्वर को उपलब्ध कर सकता है। मनुष्य ईश्वर की ईजाद तो नहीं कर सकता लेकिन ईश्वर का आविष्कार कर सकता है, इनवेंट तो नहीं कर सकता, डिस्कवर कर सकता है। मनुष्य ने जितने भी ईश्वर ईजाद किए हैं सब झूठे हैं और इन्हीं ईश्वरों के कारण और इन्हीं धर्मों के कारण धर्म का दुनिया में कहीं कोई पता भी नहीं मिलता। जहाँ भी मनुष्य जायगा कोई न कोई ईश्वर बीच में आ जायगा और कोई न कोई धर्म। और धर्म से आपका कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकेगा, हिन्दू बीच में आ जायगा, ईसाई, मुसलमान, जैन और बौद्ध कोई न कोई बीच में आ जायगा, कोई न कोई दीवाल खड़ी हो जायगी, कोई न कोई पत्थर बीच में अटक जायगा और द्वार बीच में बन्द हो जायगा। ये द्वार परमात्मा से मनुष्य को तो तोड़ते ही हैं, मनुष्य से भी मनुष्य को तोड़ देते हैं। मनुष्य को मनुष्य से अलग करने वाले कौन हैं ? एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच कौन-सी दीवाल है ? पत्थर की, मकानों की ? नहीं, मन्दिरों की, मस्जिदों की, धर्मों की, शास्त्रों की, विचारों की दीवालें हैं जो एक-एक मनुष्य को दूसरे

मनुष्य से अलग किए हुए हैं और स्मरण रहे कि जो दीवालें मनुष्य को मनुष्य से दूर कर देती हैं वे दीवालें मनुष्य को परमात्मा से मिलने देंगी, यह असम्भव है। अगर मैं आपसे दूर हो जाता हूँ तो यह कैसे सम्भव है कि जो चीज मुझे आपसे दूर कर देती हो वही मुझे उससे जोड़ दे जिसका नाम ईश्वर है ? यह सम्भव नहीं है। लेकिन इस तरह का ईश्वर, इस तरह का धर्म हजारों-हजारों वर्षों से मनुष्य के मन पर छाया हुआ है और यही कारण है कि पाँच-छह हजार वर्षो से निरन्तर चिन्तन, मनन और ध्यान के बाद भी जीवन में धर्म का कोई अवतरण नहीं हो सका। एक मिथ्या धर्म हमारे और धर्म के बीच खड़ा हुआ है। नास्तिक धर्म को नहीं रोक रहे हैं और न वैज्ञानिक रोक रहे हैं और न भौतिकवादी रोक रहे हैं। रोक रहे हैं वे लोग जिन्होंने धर्मो की ईजाद कर ली है। हम किसी न किसी ईजाद किए हुए धर्म की दीवाल में आबद्ध हो गए हैं, कारागार में बन्द हो गए हैं और हमारे चित्त परतन्त्र हो गए हैं और उस स्वतन्त्रता को खो दिये हैं जो सत्य की खोज की पहली शर्त है। ऐसा ईश्वर मर गया है, मर जाना चाहिए। न मरा हो तो जिन लोगों को भी ईश्वर से प्रेम है उन्हें सहायता करनी चाहिए कि वह मर जाय। उसे दफना दिया जाना चाहिए। अगर समय रहते यह न हो सका तो सच्चे धर्म के अभाव में मनुष्य जाति का क्या होगा, यह कहना बहुत कठिन है; और वहुत दुर्भाग्यपूर्ण भी होगी वह घोषणा। उस दिन की कल्पना भी मन को कँपा देने वाली है।

आज भी मनुष्य को क्या हो गया है, आज भी मनुष्य क्या है ? अगर पशु-पक्षियों में होश होगा तो वे आदमी को देखकर जरूर हँसते होंगे, उन्हें हँसी आती होगी। डार्विन ने कुछ वर्षों पहले लोगों को समझाया कि मनुष्य जो है वह बन्दर का विकास है। लेकिन एक बन्दर ने मुझे बताया है कि मनुष्य बन्दर का पतन है। डार्विन समझ नहीं पाया। बन्दर हँसते हैं आदमी पर और सोचते हैं कि यह उनका पतन है। कुछ बन्दर भटक गए हैं और आदमी हो गए हैं और डार्विन को खयाल था कि यह बन्दरों का विकास है। यह केवल आदमी के अहंकार की भूल है, एक बन्दर ने मुझे बताया। आदमी की आज जो स्थिति है यह कल और क्या होगी और कौन इस स्थिति को ऐसा बनाये हुए है, स्मरण रखिए बीमारियों से ज्यादा घातक वे दवाइयाँ हो जाती हैं जो झूठी हैं। स्मरण रखिए, समस्याओं से भी ज्यादा खतरनाक वे

समाधान हो जाते हैं जो सच्चे न हों। क्योंकि समस्याएँ तो एक तरफ बनी रहती हैं और समाधान दूसरी समस्याएँ खड़ी कर देते हैं। इधर पाँच हजार वर्षों में धर्म के नाम पर जो कुछ हुआ है उससे जीवन की कोई समस्या हल नहीं हुई, बल्कि और नई समस्याएँ खड़ी हो गईं। और हर समाधान अगर नई समस्याएँ खड़ी कर देता हो तो ऐसे समाधनों से विदा लेने का समय आ गया है। उन्हें विदा दे देनी जरूरी है, क्योंकि बहुत-सी व्यर्थ की समस्याएँ उनके कारण पैदा हुई हैं और समाधान तो कोई भी नहीं हुआ है। मनुष्य ईश्वर के कितने निकट पहुँचा है ? मन्दिर तो बढ़ते जाते हैं, मस्जिदें तो बढ़ती जाती हैं, गिरजे रोज नए-नए खड़े होते जाते हैं और ऐसा मालूम होता है कि अगर यह विकास इसी भाँति चला तो आदमी के रहने के लायक मकान न बचेंगे, ईश्वर सब मकान घेर लेगा। लेकिन इन मन्दिरों में, इन गिरजों में, इन मस्जिदों में होता क्या है ? क्या मनुष्य के जीवन से कोई ईश्वर-सम्बन्ध वहाँ पैदा होता है ? क्या मनुष्य के जीवन में कोई क्रान्ति वहाँ घटित होती है ? क्या मनुष्य के जीवन का दुख और अंधकार वहाँ दूर होता है ? क्या मनुष्य के जीवन की हिंसा और घृणा वहाँ समाप्त होती है ? क्या मनुष्य के जीवन में प्रेम और प्रार्थना के बीज वहाँ पैदा होते हैं ? क्या कोई सौन्दर्य के फूल मनुष्य के हृदय पर वहाँ पैदा होते हैं, बनते हैं और निर्मित होते हैं ? नहीं, बिलकुल नहीं। बल्कि वहाँ मनुष्य और मनुष्य के बीच घृणा पैदा होती है, क्रोध और हिंसा पैदा होती है। आज तक जितना संघर्ष और रक्तपात मन्दिरों और मूर्तियों के नाम पर हुआ है उतना और किसी चीज के नाम पर हुआ है ? और मनुष्य की जितनी हत्या मनुष्यों के द्वारा निर्मित धर्मस्थानों को लेकर हुई है उतनी और किसी बात से हुई है ? अगर हम अब भी इस बात को कहते चले गए कि हम इन्हीं स्थानों को धर्मस्थान मानते रहेंगे तो निश्चित मानिए कि धर्म के अवतरण की फिर कोई सम्भावना नहीं है।

एक चर्च के द्वार पर सुबह-सुबह एक आदमी ने आकर दस्तक लगाई। मैं तो उसे आदमी कह रहा हूँ लेकिन चर्च में जो लोग रहते थे वे उसे आदमी नहीं समझते थे। क्योंकि मन्दिरों ने आदमी और आदमी में फर्क पैदा कर रखा है। वह आदमी काले रंग का था और जिनका मन्दिर था और जिनका परमात्मा था वह सफेद रंग के लोग थे। उस मन्दिर के पुरोहित ने उस काले आदमी से कहा, तुम यहाँ कैसे आए ? उसने कहा, मैं परमात्मा की खोज में

आया हूँ। पुरोहित ने उसे नीचे से ऊपर तक देखा। काला आदमी, और सफेद आदमी के मन्दिर में आवे, यह समझ में आने वाली बात नहीं थी। यदि पुराने दिन होते तो उसने तलवार निकाल ली होती और उससे कहा होता कि यहाँ से हट जाओ, तुम्हारी छाया पड़नी भी खतरनाक है। लेकिन दिन बदल गए हैं और भाषाएँ बदल गई हैं। उस पुरोहित ने बहुत प्रेम से कहा, "मेरे भाई मन्दिर में आने से क्या होगा ?जबतक तुम्हारा हृदय शांत न हो और तुम्हारा मन विकारों से मुक्त न हो तबतक मन्दिर में आकर क्या करोगे ? परमात्मा तो केवल उन्हें मिलता है जिनके हृदय शांत होते हैं और विकार से मुक्त होते हैं। तो तुम जाओ, पहले हृदय को पवित्र करो और फिर आना।" उस पुरोहित ने सोचा होगा कि न हृदय पवित्र होगा और न यह वापस आयगा। लेकिन यह बात उसने सफेद चमड़ी के लोगों से कभी भी नहीं कही थी। यह तो उस आदमी को उस मंदिर से दूर रखने का उपाय था। वह काला आदमी चला गया। कई महीने बाद रास्ते के चौराहे पर वह उस पुरोहित को दिखाई पड़ा। वह बहुत मग्न और बहुत आनन्दित था और उसकी आँखों में रोशनी झलकती थी। उस पुरोहित ने पूछा कि तुम दोबारा नहीं आए। उसने कहा कि मैं क्या करूँ। मैंने मन को पवित्र करने की कोशिश की। मुझसे जो बन पड़ता था वह मैंने किया। मैं शान्त हुआ और मैंने एकान्त खोजा और एक रात परमात्मा ने मुझे स्वप्न में दर्शन दिए और उसने कहा कि तू किसलिए पवित्र होने की कोशिश करता है। मैंने उससे कहा कि वह जो मंदिर है हमारे गाँव में, वह जो चर्च है, मैं उसमें प्रवेश करना चाहता हूँ और उसके पुरोहित ने कहा है कि पहले पवित्र हो जाओ, तब आने के लिए द्वार खुलेगा। परमात्मा यह सुनकर हँसने लगा और उसने कहा कि तू बिलकुल पागल है। कोशिश छोड़ दे। दस साल से मैं खुद ही उस चर्च में घुसने की कोशिश कर रहा हूँ। पुजारी मुझे भी नहीं घुसने देता। मैं खुद ही सफल नहीं हो सका और निराश हो गया हूँ तो तू वहाँ कैसे प्रवेश पा सकेगा ?

और यह बात एक मन्दिर की बाबत नहीं सभी मंदिरों की बाबत सच है। यह बात एक पुजारी के सम्बन्ध में नहीं, सभी पुजारियों के सम्बन्ध में सच है। जहाँ भी मंदिर है और जहाँ भी पुजारी हैं वहाँ उन्होंने परमात्मा को कभी प्रवेश नहीं पाने दिया और न वे पाने देंगे, क्योंकि परमात्मा और पुजारी दोनों एक साथ नहीं चल सकते। परमात्मा प्रेम है, पुजारी व्यवसाय है। प्रेम

और व्यवसाय का क्या सम्बन्ध ! जहाँ पुजारी हैं वहाँ दूकान है, वहाँ मंदिर कैसे हो सकता है ? अपनी उन दुकानों को उन्होंने मंदिर बना रखे हैं और उन दुकानों के ग्राहकों को दूसरी दुकानों के खिलाफ बहुत घृणा से भर रखा है ताकि वे उनकी दुकानों को छोड़कर दूसरी दुकानों पर न चले जायँ। एक मन्दिर दूसरे मंदिर के विरोध में है और एक मंदिर का परमात्मा दूसरे मंदिर के परमात्मा के विरोध में है। क्या यह धर्म की स्थिति है ? और क्या इसके द्वारा धर्म को गति मिली है, प्राण मिले हैं ? नहीं, धर्म निष्प्राण हुआ है। इस भाँति का ईश्वर मर गया हो, इससे ज्यादा सुखद सुसमाचार दूसरा और नहीं हो सकता। लेकिन अगर वह मर भी गया हो तो पुजारी इसका पता आपको नहीं चलने देंगे, क्योंकि आपको यह पता चल जाना बहुत खतरनाक होगा। इसलिए वह उस मरे हुए ईश्वर के आसपास भी मंत्र पढ़ते रहेंगे और पूजा करते रहेंगे। इसलिए नहीं कि परमात्मा से उन्हें बहुत प्रेम है, बल्कि इसलिए कि उनके जीवन का आधार वे ही पूजाएँ हैं, वे इसी से जीते हैं। यही उनकी आजीविका है।

जिन लोगों ने परमात्मा को आजीविका बनाया उन लोगों ने ही मनुष्य को परमात्मा से दूर करने के उपाय किए। जहाँ भी परमात्मा जीविका बन गया हो, जान लेना कि वहाँ परमात्मा नहीं हो सकता। परमात्मा प्रेम है और प्रेम का व्यवसाय नहीं हो सकता, उसकी आजीविका नहीं हो सकती। प्रार्थनाएँ बेची नहीं जा सकतीं और प्रार्थनाएँ दूसरों के लिए की भी नहीं जा सकतीं, प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं होता और न कोई दलाल होता है। जहाँ दलाल हों और मध्यस्थ हों वहाँ प्रेम असम्भव है, वहाँ सौदा होगा, प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम सीधा होता है। प्रेम के बीच में कोई मौजूद नहीं होता। परमात्मा और मनुष्य के बीच जिस दिन से पुजारी मौजूद हुआ उसी दिन से सारी बात खराब हो गई। ऐसा परमात्मा मर जाय, इससे ज्यादा शुभ कुछ भी नहीं है। क्योंकि ऐसा परमात्मा जिन्दा ही नहीं है और इसकी मृत्यु से उस परमात्मा के जीवन की तरफ हमारी आँखें उठनी शुरू होंगी जो वस्तुतः जीवन है, महान जीवन है, परम जीवन है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन और बौद्ध और इस तरह के सभी नाम दुनिया से विदा होने चाहिए, तभी दुनिया में धर्म का जन्म हो सकता है। इसी भाँति शास्त्रों, शब्दों और सिद्धान्तों का ईश्वर भी मर गया है। वह भी सच्चा ईश्वर नहीं है। शब्द,

शास्त्र और सिद्धान्त मनुष्य के चित्त और वुद्धि के अनुमानों से ज्यादा नहीं है वे अँधेरे में फेंके गए उन तीरों की भाँति हैं जो लग भी जाता हो तो भी उनके लगने का कोई अर्थ नहीं होता। उनका लग जाना विलकुल सांयोगिक है। मनुष्य सोचता रहा; जीवन में जहाँ-जहाँ अज्ञात और अँधेरा है, मनुष्य विचार करता रहा, अनुमान करता रहा। अनुमानों के वहुत शास्त्र सारी जमीन पर इकट्ठे हो गए। इन अनुमानों में, इन कल्पनाओं में, इन धारणाओं में कोई सत्य नहीं है, कोई ईश्वर नहीं है क्योंकि ईश्वर का अनुभव तो वहीं शुरू होता है जहाँ सव अनुमान, सव विचार, सव धारणाएँ शांत हो जाती हैं। जहाँ चित्त मौन और निर्विचार को उपलब्ध होगा वहीं वह सत्य को जानने में समर्थ होता है। जहाँ सारे शास्त्र शून्य हो जाते हैं वहीं उसका उद्घाटन होता है जो सत्य है। इसलिए शव्दों में जो भटके हों, शव्दों को जिन्होंने पकड़ रखा हो, शास्त्रों को जिन्होंने अपनी आत्मा समझ रखा हो उनका सत्य से कोई सम्वन्ध नहीं हो सकेगा। अनुमान करने में मनुष्य की वुद्धि प्रखर है, तीव्र है, और अनुमान के द्वारा अपने अज्ञान को ढँक लेने में भी हम वहुत होशियार हैं। जहाँ-जहाँ अज्ञान है वहाँ-वहाँ हम कोई अनुमान कर लेते हैं, कोई कल्पना कर लेते हैं और धीरे-धीरे उस कल्पना पर विश्वास करने लगते हैं। क्यों ? क्योंकि उस कल्पना पर विश्वास करने से हमारे अज्ञान का वोध नष्ट हो जाता है। हमें लगता है कि हम जानते हैं। जिस मनुष्य को यह लगता हो, मैं जानता हूँ ईश्वर को, वह ईश्वर को कभी नही जान सकेगा क्योंकि उसका जानना, निश्चित ही कहीं शास्त्रों और सिद्धान्तों की पकड़ पर निर्भर होगा। कुछ उसने सीख लिया होगा, कुछ उसने समझ लिया होगा, कुछ उसने स्मरण कर लिया होगा, वही उसका ज्ञान वन गया होगा। ऐसा ज्ञान नहीं, वल्कि ऐसा अज्ञान कि मैं जीवन-सत्य के सम्वन्ध में कुछ भी नहीं जानता हूँ; इस वात का वोध कि मुझे जीवन-सत्य के सम्वन्ध में कुछ भी पता नहीं, कुछ भी ज्ञात नहीं, ऐसे अज्ञान (ignorance) का स्पष्ट एहसास, ऐसी प्रतीति कि मुझे पता नहीं, मनुष्य के चित्त को शव्दों के भार से मुक्त कर देती है और वह मौन पैदा होता है जो उसे जानने की तरफ ले जाता है।

किसी ने एथेंस में यह घोषणा कर दी कि सुकरात सवसे वड़ा ज्ञानी है। लोग सुकरात के पास गए और उन्होने सुकरात से कहा कि लोगों ने घोषणा की है कि तुम सवसे वड़े ज्ञानी हो। सुकरात हँसा और उसने कहा कि जाओ

उनसे कहना कि जब मैं युवा था तो मुझे ऐसा भ्रम था कि मैं ज्ञानी हूँ। फिर जैसे-जैसे मेरी उम्र बढ़ी, मेरा ज्ञान बिखरता गया, पिघलता गया और बह गया। अब जब मैं मौत के करीब आ गया हूँ और अब जब मुझे किसी से कोई भी डर नहीं है, मैं एक सच्ची बात कह देना चाहता हूँ कि मैं कुछ भी नहीं जानता। उन लोगों से कह दो कि सुकरात तो कहता है कि वह महा अज्ञानी है। वे लोग गए और उन्होंने जाकर, उन लोगों से इसकी घोषणा गाँव में करते फिरते थे, कहा कि सुकरात तो स्वयं कहता है कि वह महा अज्ञानी है। उन्होंने कहा, इसीलिए तो हम कहते हैं कि उसको परम ज्ञान उपलब्ध हुआ है। तभी तो वह यह कहने में समर्थ हो गया और इस सत्य को जानने में समर्थ हो गया कि मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ। इस शान्त, मौन, और निर्दोष स्थिति में ही जानने के द्वार खुल सकते हैं। जिसको यह खयाल हो कि मैंने जान लिया है, उसका तो अहंकार और मजबूत हो जायगा। ज्ञानियों के अहंकार से ज्यादा बड़ा अहंकार और किसी का नहीं होता। उनका तो 'मैं' भाव कि मैं कुछ हूँ और भी प्रबल हो जाता है। और जिसको यह वहम हो जाय कि मैं कुछ हूँ वह परमात्मा से नहीं मिल सकेगा, क्योंकि परमात्मा से मिलने की पहली शर्त यह है—जैसे बूंद अपने को सागर में खो देती है ऐसे ही कोई अपने अहंकार को सर्व के साथ निमज्जित कर दे, सर्व के साथ खो दे, वह जो चारो तरफ फैला हुआ विस्तार है, वह जो असीम और अनन्त सत्ता है, चारो ओर उसमें अपने को डुबो दे और खो दे। सुकरात ने कहा कि मैं महान अज्ञानी हूँ। क्या आप भी किसी क्षण में इस बात का अनुभव कर पाते है कि आप महान अज्ञानी हैं ? अगर कर पाते हैं तो कहीं न कहीं परमात्मा वह क्षण निकट लायगा जब ज्ञान का जन्म हो सकता है। लेकिन यदि आप भी अपने मन में यह दोहराते हैं कि मैं जानता हूँ तो स्मरण रखना, यह जानने का भ्रम कभी भी जानने नहीं देगा। ज्ञानियों का ईश्वर मर गया। पंडितों का ईश्वर मर गया। अब तो उन लोगों के ईश्वर के लिए जगत में जगह होगी जिनके हृदय बच्चों की तरह सरल हों और वह यह कह सकें कि हम नहीं जानते और उस न जानने के बिन्दु से जिनकी खोज शुरू हो सके, जो न जानने के स्थान की खोज कर सकें और यात्रा कर सकें। सच तो यह है कि कोई भी खोज तभी प्रारम्भ होती है जब न जानने का भाव गहरा और प्रबल हो जाय। जब जानने का भाव गहरा हो जाता है तो खोज

बन्द हो जाती है, टूट जाती है, समाप्त हो जाती है।

लेकिन हम सभी लोग कुछ न कुछ जानने के खयाल में हैं। अगर हमने गीता या कुरान या बाइबिल या कोई और शास्त्र स्मरण कर ली है और अगर हमें वे शब्द पूरी तरह कंठस्थ हो गए हैं तो जीवन जब भी कोई समस्याएँ खड़ी करता है, हम उन सूत्रों को दोहराने में सक्षम हो जाते हैं। अगर हमें इस भाँति ज्ञान पैदा हो गया है तो हम बहुत दुर्दिन की स्थिति में हैं, बहुत दुर्भाग्य है। यह ज्ञान खतरनाक है। यह ज्ञान कभी सत्य को जानने नहीं देगा और कभी ईश्वर को भी जानने नहीं देगा। कभी ईश्वर से भी यह ज्ञान सम्बन्धित नहीं होने देगा। यह ज्ञान जो शब्दों से और शास्त्रों से आता है, ज्ञान ही नहीं है; यह अज्ञान को छिपा लेने के उपाय से ज्यादा नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि इस अज्ञान में भी कभी-कभी कोई तीर लग जाता हो। कभी-कभी पागल भी ठीक उत्तर दे देते हैं और कभी-कभी तो अनुमान से भी अंधेरे में सच्चाइयाँ साबित हो जाती हैं। लेकिन उनपर कोई जीवन खड़ा नहीं हो सकता।

मैंने सुना है, एक गाँव में स्कूल के निरीक्षण के लिए एक इंस्पेक्टर आया। खबर उसके पहले ही उस गाँव में आ गई थी कि उस इंस्पेक्टर का दिमाग खराब हो गया है। वह पागल हो गया था, लेकिन अपने काम को जारी रखे हुए था, बल्कि और भी मुस्तैदी से। पागल काम करने में बड़े कर्मठ हो जाते हैं। वे जो भी करते हैं, पूरी ताकत से करते हैं। वह और भी जोर से निरीक्षण करने लगा। अब वह घर पर बैठता नहीं था। वह गाँव-गाँव निरीक्षण करता फिरता था और स्कूल के रजिस्टर में उस स्कूल का रिकार्ड खराब करता था, क्योंकि उसके प्रश्नों के उत्तर देना बिलकुल असम्भव था। वह उस गाँव में भी आया जिसकी मैं बात कर रहा हूँ। उस गाँव का अध्यापक डरा हुआ था। प्रधान अध्यापक डरा हुआ था, बच्चे डरे हुए थे कि क्या होगा। वह आया और सबसे बड़ी जो कक्षा थी उस स्कूल में, उसमें जाकर उसने कुछ प्रश्न पूछे। सबसे पहले उसने यह कहा कि जो प्रश्न मैं पूछ रहा हूँ इसका कोई भी अब तक उत्तर नहीं दे पाया है। अगर तुम बच्चों में से किसी ने भी इसका उत्तर दे दिया तो फिर मैं दूसरा प्रश्न नहीं पूछूँगा। अगर तुम इसका उत्तर नहीं दे सके तो मैं और भी प्रश्न पूछूँगा, लेकिन फिर वे इससे भी ज्यादा कठिन होंगे। उसने प्रश्न पूछा। उसने पूछा कि दिल्ली से एक हवाई जहाज कलकत्ता की तरफ उड़ा। वह घंटे भर में दो सौ मील चलता है तो

क्या तुम हिसाब लगाकर बता सकते हो कि मेरी उम्र क्या है ? सारे बच्चे घबरा गए। बच्चे क्या, बूढ़े होते तो वे भी घबरा जाते। प्रश्न बिलकुल असंगत था। उसमें कोई सम्बन्ध ही नहीं था। दिल्ली से हवाई जहाज कलकत्ता किसी रफ्तार से जाय, उससे क्या सम्बन्ध था उसकी उम्र का ? लेकिन और बड़ी हैरानी की बात थी कि एक बच्चे ने उत्तर देने के लिए हाथ हिलाया। तब तो अध्यापक और प्रधान अध्यापक और भी हैरान हुए। उसका प्रश्न तो पागलपन का था, लेकिन एक बच्चा उत्तर देने को भी राजी था। जब उसने हाथ हिलाया था तब इंस्पेक्टर बहुत खुश हुआ था। उसने कहा कि यह पहला मौका है कि ऐसा बुद्धिमान बच्चा मुझे मिला जिसने उत्तर देने के लिए हाथ हिलाया। उस बच्चे ने कहा कि यह उत्तर मैं ही दे सकता हूँ और आप सारी जमीन पर घूम लेते तो भी उत्तर नहीं मिलता। जैसे आपका प्रश्न आप ही कर सकते हैं, यह उत्तर भी सिर्फ मैं ही दे सकता हूँ। इंस्पेक्टर ने पूछा कि कितनी है उम्र मेरी ? उस लड़के ने कहा कि आपकी उम्र ४४ वर्ष है। वह यह सुनकर हैरान हो गया। उसकी उम्र ४४ वर्ष थी। उसने कहा किस विधि से तुमने यह गणित हल किया। उसने कहा कि यह बहुत आसान है। मेरा बड़ा भाई आधा पागल है, उसकी उम्र बाइस वर्ष है। तो यह बिलकुल आसान सवाल है। आपकी उम्र ४४ वर्ष होनी ही चाहिए।

ईश्वर के सम्बन्ध में, आत्माओं के सम्बन्ध में, परलोक, स्वर्ग और नर्क और मोक्ष के सम्बन्ध में जो प्रश्न पूछे गए हैं वह इस पागल के प्रश्न से भी ज्यादा असंगत हैं। इनके उत्तर देने वाले भी मिल गए। यह कितनी असंगत बात है कि हम पूछें ईश्वर कैसा है, कहाँ है, कहाँ रहता है। हम, जिन्हें अपना ही पता नहीं, ईश्वर के सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछें। हम, जिन्हें यह भी पता नहीं कि हम कहाँ हैं, कौन हैं, यह पूछें कि ईश्वर क्या है, कैसा है ! यह बिलकुल ही असंगत है। लेकिन हमारे प्रश्न चाहे असंगत हों, इनके उत्तर देने वाले लोग भी मौजूद हैं। वे बताते हैं कि ईश्वर कहाँ है। उन्होंने नक्शे भी बनाए हैं और उन्होंने किताबें भी छापी हैं और उसमें उसका सब पता ठिकाना भी दिया है। पुराने जमाने में फोन नम्बर नहीं होते थे, इसलिए उन्होंने फोन नम्बर भगवान का नहीं लिखा। अगर वे फिर से नए संस्करण निकालेंगे अपनी किताबों के तो उनमें फोन नम्बर भी होगा और फिर वहाँ जाने की जरूरत नहीं है, आप घर से ही बात कर लेंगे। उन्होंने फासला तक बताया है। स्वर्ग

के रास्ते और नर्क के रास्ते बनाए हैं और नक्शे बनाये हैं और मंदिरों में वे नक्शे टँगे हुए हैं। इन सारी बातों पर अगर नक्शा बनाने वालों में विरोध है, तो यह स्वाभाविक है, क्योंकि यह तय करना कठिन है कि किसका नक्शा ठीक है। इन सम्बन्धों में कि ईश्वर की शक्ल कैसी है, चीनी और भारतीय में झगड़ा होना स्वाभाविक है, क्योंकि चीनी जो शक्ल बनायगा वह चीन के आदमी-जैसी होगी और भारतीय जो शक्ल बनायगा वह भारतीय आदमी-जैसी होगी। नीग्रो जो शक्ल बनायगा उसमें वह पतला होंठ नहीं लगा सकता। उसके बाल घुँघराले होंगे। शक्ल काली होगी और होंठ ऐसे होंगे जैसे नीग्रो के होते हैं। तो झगड़ा होना स्वाभाविक है कि ईश्वर के होंठ कैसे हैं। भारतीयों का उत्तर दूसरा होगा। नीग्रो का उत्तर दूसरा और चीनी का उत्तर दूसरा, यह बिल्कुल स्वाभाविक है। और इन झगड़ों को तय करने का रास्ता फिर एक ही रह जाता है कि कौन कितनी जोर से तलवार चला सकता है और कितने जोर से लोगों को मार सकता है। जो जितना ज्यादा जोर से मार सकता है और मारने में जीत सकता है, उसका उत्तर सही है। तो उस स्कूल के इंस्पेक्टर पर मत हँसिए। सारी दुनियाँ के इतिहास पर हँसिए, पंडितों पर हँसिए। उत्तर के सही होने का सबूत क्या है? सबूत यह है कि हम सात करोड़ हैं तो तुम बीस करोड़ हो। सबूत यह है कि अगर तुम लड़ोगे तो हम तुम्हारी हत्या कर देंगे, तुम हमारी नहीं कर पाओगे। इसलिए हम सही हैं। इसीलिए तो सारी दुनिया के धर्म अपनी संख्या बढ़ाने के लिए पागल हैं। क्योंकि संख्या बल है और सत्य की गवाही में संख्या के सिवा और कौन-सा बल है? यह सारी दुनियाँ के धर्मपुरोहित राजाओं को दीक्षित करने के लिए दीवाने और पागल रहे हैं। वह इसलिए कि राजा के पास बल है और जो राजा जिस धर्म में दीक्षित हो जायगा वह धर्म सत्य हो जायगा। लड़कर जो लोग यह तय करना चाहते हों कि कुरान सही है कि बाइबिल, कि गीता, उनसे ज्यादा पागल और कौन होगा? लड़ाई क्या किसी बात की सच्चाई का सबूत है या कि जीत जाना कोई सच्चाई का सबूत है? लेकिन इन उत्तरों का भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक है क्योंकि वे मनुष्य की कल्पना से निकले हैं और मनुष्य के अपने अनुभव से निकले हैं। अगर आप तिब्बतियों से पूछें कि नर्क में क्या है तो वे कहेंगे कि नर्क बहुत ठंडा है, बहुत शीतल है, क्योंकि तिब्बत ठंड से परेशान है, शीत से परेशान है। तो जो तिब्बत में पाप करते हैं

उनको ठंडी जगह में भेजना स्वाभाविक है। यह बिलकुल अनुभव की बात है कि उनको ठंडी जगह में भेज दो जो पाप करते हे। लेकिन भारतीयों से पूछिए कि तुम्हारा नर्क कैसा है तो वहाँ पर आग की लपटें जल रही है, कड़ाहें जल रहे हैं और उन जलते हुए कड़ाहों में लोगों को डाला जा रहा है, क्योंकि हम गरमी से परेशान है, सूरज तप रहा हे। हमारा नर्क गर्म होगा, यह बिलकुल स्वाभाविक है, यह हमारा अनुमान बिलकुल स्वाभाविक है। हम अपने पापी को ठंडी जगह नही भेज सकते, ठंडी जगह तो हम अपने मिनिस्टरों को भेजते है। ठंडी जगह तो हम अपनी राजधानियाँ बदलते है। पापियों को ठंडी जगह भेजेंगे तब तो बड़ी गडबड़ी हो जायगी, पापियों को हम गरम जगह भेजेंगे। यह हमारी कामना गरम जगह भेजने की, उनको सताने की, हमारे नर्क का निर्माण बन जाती है। नर्क हमारा गरम हो जाता है। यह हमारा अनुमान है। इस अनुमान से नर्क के होने का न पता चलता है कि वह गरम है या ठंडा या वह है भी या नही। इससे केवल एक बात का पता चलता है कि किस कौम ने और किस तरह के लोगों ने यह कल्पना की है।

तो हमारे शास्त्र यह नहीं बताते कि सत्य कैसा है। हमारे शास्त्र यह बताते है कि उनको बनाने वाले लोग कैसे है। हमारी कल्पनाएँ सत्य के सम्बन्ध में यह नही बताती कि सत्य कैसा है। यह बताती है कि इनकी कल्पना करने वाले लोग किस स्थिति में है, किस मनोदशा में है। फिर हम इनपर लड़ाइयाँ लड़ते है, इन अनुमानों पर। इन अनुमानों और इन शास्त्रों पर सारी दुनिया विभाजित और खड़ी है। इन हवाई बातों पर हम एक दूसरे की हत्या करते रहे है। लेकिन हम लोगों को समझाते रहे है कि तुम मरो, फिक्र मत करो। जो धर्म के लिए मरता है, वह स्वर्ग जाता है। तब ऐसे नासमझ खोज लेने कठिन नही है जो स्वर्ग जाने की उत्सुकता में जमीन को बर्बाद करने के लिए राजी हो जायें। और जमीन पर ऐसे पागल काफी है जिन्हें शहीद होने में बहुत मजा आ जाता है और यह सारा हमारा इतिहास ऐसे झूठे ईश्वरों के आसपास, इर्दगिर्द निर्मित हुआ है, शब्दों के आसपास, अनुमानों के आस-पास, सत्य के निकट नही। सत्य के निकट कोई संगठन खड़ा नही हो सकता। संगठन हमेशा झूठ के करीब ही खड़े हो सकते है। सत्य के इर्दगिर्द कोई संगठन खड़ा नही हो सकता। नही हो सकता इसलिए कि सत्य का अनुभव अत्यन्त वैयक्तिक है। समूह से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। दस आदमी

इकट्ठे बैठकर सत्य का अनुभव नहीं कर सकते। भीड़ से उसका कोई वास्ता नहीं है। एक व्यक्ति अपने एकान्त में, अकेलेपन में अपने भीतर डूबता है, शान्त होता है, मौन होता है और उसे जानता है। व्यक्ति और व्यक्ति ही केवल सत्य को जानते हैं समूह और समाज नहीं। इकट्ठे होकर सत्य को नहीं जाना जा सकता। इकट्ठे होकर संगठन बनाया जा सकता है, लेकिन इकट्ठे होकर धर्म को नहीं पाया जा सकता।

संगठनों का ईश्वर मर गया है, मर जाना चाहिए। लेकिन धर्म का ईश्वर, वह बात ही और है। वही अकेला जीवित है, वही अकेला जीवन है। उसके अतिरिक्त तो सब मृत्यु है, उसके अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं। उसको जानने के लिए संगठन में नहीं, साधना में जाना जरूरी है। साधना अकेले की बात है, संगठन भीड़ और समूह की। और हम सारे लोग अब तक धर्म को समूह और संगठन की बात समझते रहे हैं। हम समझते हैं कि हिन्दू हो जाना धार्मिक हो जाना है; मुसलमान हो जाना, पारसी हो जाना, धार्मिक हो जाना है। कैसी पागलपन की बातें हैं! किसी एक संगठन के हिस्से हो जाने से कोई धार्मिक होता है? धार्मिक होने का अर्थ ही कुछ उलटा है इससे। संगठन का हिस्सा होकर तो कोई धार्मिक नहीं होता, बल्कि संगठनों से जो मुक्त हो जाता है वह धार्मिक हो जाता है। समाज का हिस्सा होकर कोई धार्मिक नहीं होता। लेकिन अपने चित्त में जो समाज से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, वही धार्मिक हो जाता है। समाज और संगठन में तो हम किन्हीं और कारणों से इकट्ठे होते हैं; किसी भय के कारण, किसी सुरक्षा के लिए, किसी घृणा के लिए, किसी से लड़ने के लिए इकट्ठा होते हैं। इस भय के कारण कि मैं अकेला बहुत कमजोर हूँ, मैं दस के साथ हो जाऊँ।

फकीर मंसूर को फाँसी लगाई जा रही थी। लोग उसके हाथ काट रहे थे। लाखों लोग इकट्ठे हो रहे थे और उसपर पत्थर फेंक रहे थे। वे वह व्यवहार कर रहे थे जो ईश्वर के आदमी के साथ हमेशा तथाकथित धार्मिक लोग करते हैं। उसकी आँखें फोड़ डालीं, उसके पैर काट डाले। लेकिन वह फकीर मुस्करा रहा था और परमात्मा से प्रार्थना कर रहा था। लेकिन तभी एक फकीर ने भी, जो उस भीड़ में खड़ा था, एक मिट्टी का ढेला उठाकर उसकी तरफ फेंका। मंसूर अब तक मुस्करा रहा था। उसकी आँखें फोड़ दी गई थीं। उनसे खून बह रहे थे। उसके पैर काट लिये गए थे। वह मरने के

करीव था। उस पर पत्थर मारे जा रहे थे जो उसके शरीर को क्षत-विक्षत कर रहे थे लेकिन वह हँस रहा था और उसकी आँखों में, उसके हृदय में इस सारी पीड़ा और दुःख के वीच भी प्रेम था। लेकिन उस मिट्टी का ढेला जो उस फकीर ने फेंका था, उसके लगने पर मंसूर रोने लगा। लोग बड़े हैरान हुए और एक आदमी ने पूछा कि तुम्हें इतना सताया गया, तुम नहीं रोए और एक छोटे-से मिट्टी के ढेले फेंकने से इतने दुःखी हो गए? उसने कहा, और सबको तो मैं सोचता था कि नासमझ हैं, इसलिए परमात्मा से उनके लिए प्रार्थना करता था। मुझे कोई दुख नहीं था। लेकिन वह आदमी जो खड़ा है, वह फकीर है। वह वस्त्र पहने हुए है परमात्मा के और उसने भी मुझे ढेला मारा है। मुझे हैरानी हुई, तो मेरी आँखों में आँसू आ गए। जव फकीर ही ढेला मारेगा तो दुनियाँ का क्या होगा। लेकिन फकीर तो वहुत दिनों से पत्थर मार रहे हैं और इसीलिए तो दुनियाँ का यह हाल हो गया है। भीड़ विखर गई और वह आदमी मंसूर तो मर गया और सुवास उड़ गई। उस फकीर से कुछ दूसरे फकीरों ने पूछा कि तुमने ढेला क्यों मारा, तो उसने कहा कि भीड़ का साथ देने के लिए। अगर मैं भीड़ का साथ नहीं देता तो लोग समझते कि पता नहीं, यह भी मंसूर को पसन्द करता है। उन फकीरों ने कहा, पागल, अगर साथ ही देना था तो उसका देना था जो अकेला था। साथ भी दिया उनका जो वहुत थे। उन फकीरों ने उससे कहा कि फकीरी के कपड़े छोड़ दे, क्योंकि जो भीड़ से डरता है, वह धार्मिक नहीं हो सकता। अगर भीड़ ही धार्मिक होती तो दुनिया में अधर्म कैसे होता? अगर भीड़ धार्मिक होती तो फिर अधर्म और कहाँ होता? भीड़ तो अधार्मिक है, इसलिए जो भीड़ से भयभीत है और भीड़ का अंग वना रहता है वह कभी भी धार्मिक नहीं हो पायगा। भीड़ से मन को मुक्त होना चाहिए। इसका यह मतलव नहीं कि मैं आपसे यह कह रहा हूँ कि आप भीड़ को छोड़ दें और जंगल में चले जायें। जमीन वहुत छोटी है, अगर सारे लोग जंगलों में चले गए तो वहाँ वस्तियाँ वस जायँगी। उससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। यह मैं नहीं कह रहा हूँ कि आप गाँव छोड़ दें और जंगलों में चले जायें। कुछ लोगों ने यह गलती भी की है। जव उनसे यह कहा जाता है कि तुम भीड़ से मुक्त हो जाओ तो भीड़ को छोड़कर भागने लगते हैं। भागने वाला कभी मुक्त नहीं होता। भागने वाला भी डरने वाला है। अगर

मुक्त होना है तो बीच में रहो और मुक्त हो जाओ। वह अभय का मुक्त होगा।

दो तरह के लोग हैं। भीड़ में रहते हैं तो भीड़ से डरकर और दबकर रहते हैं। यही डरे हुए लोगों को जब कभी यह खयाल पैदा होता है कि मुक्त हो जायें तो ये जंगल की तरफ भागते हैं, क्योंकि वहाँ भीड़ ही नहीं रहेगी तो डराये कौन? सवाल यह नहीं है कि डराने वाला न हो। सवाल यह है कि आप डरने वाले न रहें। इसलिए जंगल जाने से कुछ भी नहीं होगा। जो जंगल भागता है वह भयभीत है। जिन्दगी से भागने वाला धर्म सच्चा धर्म नही हो सकता। जिन्दगी के बीच, जहाँ जीवन चारों तरफ है, वहीं मुक्त हुआ जा सकता है। मुक्त होने का मतलब कोई शारीरिक और बाह्य मुक्ति नहीं है। मुक्त होने का मतलब है मानसिक स्वतंत्रता, मुक्त होने का मतलब है मानसिक गुलामी को तोड़ देना। मुक्त होने का मतलब है भीड़ ने जो विश्वास दिए हैं, उनसे छूट जाना। भीड़ ने जो बातें पकड़ा दी हैं—हिन्दू होना, मुसलमान होना, इस मंदिर को पवित्र मानना, उस मंदिर को पवित्र नहीं मानना, ये जो बातें पकड़ा दी हैं, ये जो शब्द पकड़ा दिए हैं, ये जो सिद्धान्त पकड़ा दिए हैं इनसे मुक्त हो जाना। और मन की उस स्वतन्त्रता को पाकर ही सत्य की निजी वैयक्तिक खोज शुरू होती है। जो व्यक्ति दूसरे से उधार सत्यों को स्वीकार करके चुप हो जाता है उस आदमी की खोज सत्य के लिए नहीं है, क्योंकि सत्य कभी भी उधार नहीं हो सकता। जो भी चीज उधार ली जा सकती है वह संसार की होगी। और जो चीज कभी उधार नहीं पाई जा सकती, वही केवल परमात्मा की हो सकती है। परमात्मा को उधार नहीं लिया जा सकता, परमात्मा कोई ऐसी चीज नहीं है जो हस्तान्तरणीय हो, जिसे मैंने आपको दे दिया और आपने किसी और को दे दिया। जीवन में जो भी श्रेष्ठ, जो भी सत्य है, जीवन में जो भी सुन्दर है, जीवन में जो भी शिव है वह कुछ भी एक हाथ से दूसरे हाथ में नहीं दिया जा सकता। उसे तो सीधे स्वयं ही अपनी खोज, अपने प्राणों के आन्दोलन, अपने हृदय की प्रार्थनाओं, अपने जीवन की प्यास से ही पाना होता है। वह निजी और वैयक्तिक खोज है।

समूह का ईश्वर मर गया है, मर जाने दें। सहारा दें कि वह मर जाय। संगठन का ईश्वर मर गया है। जाने दें। उसे रोकें न, घबरायें न कि उसके जाने से दुनिया का धर्म चला जायगा। उसके होने की वजह से दुनिया में धर्म

नहीं आ सका है। उसे जाने दें और उस ईश्वर की आकांक्षा करें, उस ईश्वर की प्रतीक्षा करें, उस ईश्वर की प्रार्थना करे और प्रेम से भरें जो व्यक्ति का है, इकाई का है, समूह का और संगठन का नहीं है। मर जाने दें हिन्दू को, मुसलमान को, मर जाने दें बौद्ध को, विदा हो जाने दें दुनिया से। कोई जरूरत नहीं है। समूह के ईश्वर में बड़ी सुविधा है। आपको बिना खोजे धार्मिक हो जाने का मजा आ जाता है। बिना जाने जानने का सुख मिल जाता है। बिना धार्मिक हुए धार्मिक होने का अहंकार तृप्त हो जाता है। रोज सुबह उठकर किसी मंदिर में हो आते हैं और अकड़ कर चलते हैं कि मैं धार्मिक हूँ। रोज सुबह किसी किताब को उठाकर पढ़ लेते हैं और जानते हैं कि मैं धार्मिक हूँ। अगर यह रोज सुबह उठकर किसी किताब को पढ़नेवाले लोग धार्मिक हैं, अगर ये रोज मंदिर में जाने वाले लोग धार्मिक हैं, तो दुनिया में इतना अधर्म क्यों है? यह अधर्म कहाँ से आ रहा है? सच तो यह है कि जो आदमी पचास वर्ष तक एक ही किताब को रोज-रोज पढ़ता रहा है, मैं निवेदन करूँगा कि उसने उस किताब को एक-दो दिन में नहीं पढ़ा होगा, क्योंकि अगर पढ़ लिया होता तो दोबारा दोहराने की जरूरत नहीं होती। अगर उसने जान लिया होता तो दोबारा पढ़ने का कोई सवाल नहीं होता, लेकिन उसे रोज दोहराता रहा है मशीन की भाँति, यंत्र की भाँति। पहले दिन जब उसने पढ़ा होगा तब शायद कुछ समझा भी होगा। पचास वर्ष पढ़ने के बाद वह जो पढ़ेगा कुछ भी नहीं समझेगा। क्योंकि अब तो वह यंत्र ही की भाँति दोहराने में समर्थ हो गया है। अब उसे किताब पढ़ने की जरूरत नहीं है। अब तो उसके पास शब्द इकट्ठे हो गए हैं जिसको वह दोहरा लेता है। हमारा धर्म इन शब्दों का और इन संगठनों का धर्म रह गया है। ऐसे धर्म मे मनुष्य के लिए कोई भविष्य नहीं है। ऐसे धर्म को जाने दें।

मैंने उस आदमी से उस पहाड़ पर कहा था कि जरूर मर गया है ईश्वर, लेकिन यह चिन्ता की बात नहीं है। यह खुशी का अवसर है। यह स्वागत के योग्य घटना है, क्योंकि इससे यह सम्भावना बनती है कि शायद हम उस ईश्वर को खोज सकें जो वस्तुतः है। शायद हम उस धर्म को जान सकें, शायद हमारे प्राण उस धर्म की खोज में गतिमान हो सकें जो जीवन को रूपान्तर कर देगा, जिसके द्वारा जीवन प्रेम मे और आनन्द से और आलोक मे भर जाय, तो हम कहेंगे कि यह धर्म है। जिसके द्वारा जीवन इन सारी बातों से न भरा

हो, अंधकार अपनी जगह रहा हो और धर्म की पूजाएँ और प्रार्थनाएँ एक तरफ चलती रही हों और दुनियाँ की दीनता और दरिद्रता और दुख और दुर्भाग्य, कुछ भी परिवर्तित न हुआ हो और मनुष्य वैसे का वैसा ही रहा हो जैसा हजारों साल पहले था, तो ऐसे धर्म को लेकर क्या करेंगे, ऐसे धर्म को जिन्दा रखकर क्या करेंगे ?

एक फकीर एक सुवह मस्जिद के पास से निकलता था। अंधा था, आँखें नहीं थीं। उसने मस्जिद के द्वार पर हाथ फैलाए और कहा कि मुझे कुछ मिल जाय। किसी राह चलते ने कहा कि तू पागल है, यह तो मस्जिद है, यहाँ क्या मिलेगा ? यह तो परमात्मा का घर है, कहीं और माँग। वह फकीर भी अजीव रहा होगा। उसने कहा कि जव परमात्मा के घर कुछ नहीं मिलेगा तो फिर किस घर से मिलेगा। वह वहीं वैठ गया। उसने कहा कि अव तो यहाँ से तभी विदा होंगे जव कुछ मिल जायगा, क्योंकि यह तो आखिरी घर आ गया। जव इसके आगे घर कहाँ है ? और यदि यहाँ नहीं मिलने वाला है तो फिर हाथ फैलाए रखना व्यर्थ है ? फिर अव आगे कहाँ जाऊँगा ? यह तो अंतिम घर आ गया। इसके वाद घर और कौन-सा है। वह वहीं रुक गया। आँखें उसकी जरूर अंधी रही होंगी, लेकिन हमसे ज्यादा देखने की उसमें ताकत रही होगी। उसने हाथ उठा लिये। एक वर्ष वह उस द्वार से नहीं हटा। दिन आए, गए, रातें आईं, गईं, वर्षा आई, वीती, मौसम आए और गए, चाँद उगे और ढले, लोग हैरान थे। वह फकीर वहाँ वैठा रहा। कोई आ जाता और दे जाता तो भोजन कर लेता। कोई पानी दे जाता तो वह पानी पी लेता। लेकिन उस द्वार से नहीं हटा। और वरस पूरे होते-होते एक दिन सुवह लोगों ने देखा कि वह नाच रहा है और उसकी अंधी आँखों में भी एक अद्भुत सौन्दर्य की झलक मालूम हो रही है और उसके मुर्झाये चेहरे में कोई नया जीवन आ गया है। उसने लकड़ी फेंक दी। वह नाच रहा है और कृतज्ञता के शव्द वोल रहा है। लोगों ने पूछा कि क्या हुआ है ? उसने कहा कि यह मुझसे मत पूछो, मुझे देखो और समझो। आप मुझसे यह मत पूछें कि क्या हुआ है ? अव मुझे देखें और समझें। मेरी अंधी आँखों में दिखाई पड़ने लगा है। सव मैं देख रहा हूँ। तुमको नहीं, वल्कि उसको जो तुम्हारे भीतर है। अव मैं देख रहा हूँ उसको, जिसकी खोज थी। और अव मैं देख रहा हूँ कि कहीं कोई मृत्यु नहीं, और अव मैं देख रहा हूँ कि कोई दुख नहीं

है। मैं देख रहा हूँ कि मैं तो मिट गया हूँ लेकिन मिटकर भी मैंने कुछ पा लिया है, जो उससे बहुत ज्यादा बहुमूल्य है जो मैंने खोया है। मैंने कुछ नहीं खोया पर मैंने सब कुछ पा लिया है। लेकिन यह मुझसे मत पूछो। और लोगों ने देखा कि उससे पूछने की कोई भी जरूरत नहीं। उसका आनन्द कह रहा था, उसका संगीत कह रहा था, उसका गीत कह रहा था, उसका नृत्य कह रहा था। अगर दुनिया में धर्म होगा तो लोगों का आनन्द कहेगा, लोगों का प्रेम कहेगा, लोगों के गीत कहेंगे। अभी तो लोगों के पास सिवा आँसुओं के कुछ भी नहीं है और उनके हृदय में सिवा अंधकार के कुछ भी नहीं है। उनके मस्तिष्क सिवा उलझन, तनाव और अशांति के किसी चीज से परिचित नहीं हैं। यह संसार के लोगों का हाल है। इस हालत में कैसे धर्म हो सकता है?

इसलिए जो धर्म है, वह धर्म नहीं है। लोगों के आँसू इसके सबूत हैं। लोगों का अंधकार इसका सबूत है। तो यह आँसुओं और अंधकारवाला ईश्वर मर गया है, यह अच्छा है।

मैं युवक किसे कहता हूँ ?

युवक से अर्थ है ऐसा मन जो सदा सीखने को तत्पर है—ऐसा मन जिसे यह भ्रम पैदा नहीं हो गया है कि जो भी जानने योग्य था वह जान लिया गया है, ऐसा मन जो बूढ़ा नहीं हो गया है और स्वयं को रूपांतरित करने और बदलने को तैयार है। बूढ़े मन से अर्थ होता है ऐसा मन, जो अब आगे इतना लोचपूर्ण नहीं रहा है कि नए को ग्रहण कर सके, नए का स्वागत कर सके। बूढ़े मन का अर्थ है पुराना पड़ गया मन। उम्र से उसका कोई भी संबंध नहीं है। शरीर की उम्र होती है, मन की कोई उम्र नहीं होती। मन की दृष्टि होती है, धारणा होती है।

इस देश में हजारों वर्षों से युवकों का पैदा होना वन्द हो गया है। हर देश का वचपन आता है और वुढ़ापा आता है। युवक कभी भी पैदा नहीं होता। वह बीच की कड़ी है जो खो गई है, इसीलिए तो देश इतना पुराना पड़ गया है, इतना जरा-जीर्ण हो गया है, इतना बूढ़ा हो गया है। जिस देश में युवक होते हैं उस देश में इतने वुढ़ापे आने का कोई भी कारण नहीं है। इससे ज्यादा बूढ़ा देश पृथ्वी पर और कहीं नहीं है। हमारी पूरी आत्मा बूढ़ी और पुरानी पड़ गई है। हमारी सारी तकलीफ और पीड़ा के पीछे वुनियादी कारण यही है कि हमारे पास युवा चित्त, यंग मांइड नहीं है। युवा चित्त का अर्थ है जो सख्त नहीं हो गया, कठोर नहीं हो गया, पत्थर नहीं हो गया; अभी वदल सकता है, रूपान्तरित हो सकता है, अभी सीख सकता है। उसने सव कुछ सीख नहीं लिया।

स्वामी रामतीर्थ की उम्र केवल तीस वर्ष थी और वे हिन्दुस्तान के वाहर गए थे। पहली वार उन्होंने जापान की यात्रा की। वे जिस जहाज पर सवार थे उस जहाज पर एक जापानी बूढ़ा, जिसकी उम्र कोई ९० वर्ष होगी, जिसके हाथ-पैर कँपते थे, जिसके चलने में तकलीफ होती थी, जिसकी आँखें कमजोर पड़ गई थीं, चीनी भाषा सीख रहा था। चीनी भाषा जमीन पर बोली जानेवाली कठिनतम भाषाओं में से एक है। चीनी भाषा को सीखना सामान्यतया वहुत श्रम की वात है। कोई दस-पन्द्रह वर्ष, वीस वर्ष ठीक से मेहनत करे तो चीनी भाषा में ठीक से निष्णात हो सकता है। वीस वर्ष जिसके लिए मेहनत करनी पड़े, ९० वर्ष का बूढ़ा उसे अव सीखना शुरू कर रहा हो, अवश्य पागल है। कव सीखेगा वह ? कव सीख पायगा ? कौन-सी आशा है उसको वीस साल वच जाने की ? और अगर वीस साल वच भी जाय और निष्णात भी हो जाय चीनी भाषा में, तो उसका उपयोग कव करेगा ? जिस चीज को सीखने में पन्द्रह-वीस वर्ष खर्च करने पड़ें उसके लिए भी तो पच्चीस-पच्चास वर्ष हाथ में चाहिए। यह उपयोग कव करेगा ? रामतीर्थ उसको देख-देखकर परेशान हो गए और वह सुवह से शाम तक सीखने में लगा हुआ है। वरदास्त के वाहर हुआ तो उन्होंने तीसरे दिन उससे पूछा कि क्षमा करें, आप इतने वृद्ध हैं, ९० वर्ष पार कर गए मालूम पड़ते हैं, आप यह भाषा सीख रहे हैं, यह कव सीख पायेंगे ? कितना वच पायेंगे आप सीखने के वाद, कव इसका उपयोग करेंगे ? उस बूढ़े आदमी ने

आँखें ऊपर उठाईं और उससे पूछा, तुम्हारी उम्र कितनी है? रामतीर्थ ने कहा, मेरी उम्र कोई तीस वर्ष होगी। वह बूढ़ा हँसने लगा और उसने कहा, मैं अब समझ पाता हूँ कि हिन्दुस्तान इतना कमजोर, इतना हारा हुआ क्यों हो गया है। जब तक मैं जिन्दा हूँ और मर नहीं गया हूँ तबतक कुछ न कुछ सीख ही लेना है, नहीं तो जीवन व्यर्थ हो जायगा। मरना तो एक दिन है। वह तो जिस दिन मैं पैदा हुआ उसी दिन से तय है, मरना एक दिन है। अगर मैं मृत्यु का ध्यान रखता तो शायद कुछ भी नहीं सीख पाता क्योंकि एक दिन मरना है, लेकिन जबतक जिन्दा हूँ मैं पूरी तरह जिन्दा रहना चाहता हूँ और पूरी तरह जिन्दा वही रह सकता है जो जीते-जीते एक-एक पल का, एक-एक क्षण का नया कुछ सीखने में उपयोग कर रहा है।

जीवन का अर्थ है नए का रोज-रोज अनुभव। जिसने नए का अनुभव बन्द कर दिया है वह मर चुका है, उसकी मृत्यु कभी की हो चुकी। उसका अस्तित्व बेकार है, मरने के बाद अब वह किसी तरह जी रहा है। उस बूढ़े आदमी ने कहा, मैं सीखूंगा, जबतक जीता हूँ और परमात्मा से एक ही प्रार्थना है कि जब मैं मरूँ तो मृत्यु के क्षण में भी सीखता हुआ मरूँ ताकि मृत्यु, मृत्यु-जैसी न मालूम पड़े। वह भी जीवन प्रतीत हो।

सीखने की प्रक्रिया है जीवन। ज्ञान की उपलब्धि है जीवन। लेकिन इस देश का दुर्भाग्य है कि हमने सीखना तो हजारों साल से बन्द कर दिया है। हम नया कुछ भी सीखने को उत्सुक और आतुर नहीं हैं। हमारे प्राणों की प्यास ठंडी पड़ गई है, हमारी चेतना की ज्योति ठंडी पड़ गई है, हमें एक भ्रम पैदा हो गया है कि हमने सब सीख लिया है, हमने सब पा लिया, हमने सब जान लिया। जानने को अनंत शेष है। आदमी का ज्ञान कितना ही ज्यादा हो जाय, उस विस्तार के सामने कुछ नहीं है जो सदा जानने को शेष रह जाता है। ज्ञान तो थोड़ा है, अज्ञान बहुत बड़ा है। उस अज्ञान को जिसे तोड़ना है उसे सीखते ही जाना होता है, सीखते ही जाना होगा। लेकिन भारत में यह सीखने की प्रक्रिया और युवा होने की धारणा ही खो गई है। यहाँ हम बहुत जल्दी सख्त हो जाते हैं, कठोर हो जाते हैं, लोच खो देते हैं। बदलाहट की क्षमता, रिसेप्टीविटी की सामर्थ्य सब खो देते हैं। एक जवान आदमी से बात करो तो वह इस तरह बात करता है जैसे उसने अपनी सारी धारणाएँ सुनिश्चित कर ली हैं। उसका सब 'ज्ञान ठहर गया है, उसकी आँखों में इंक्वायरि

नहीं मालूम होती, खोज नहीं मालूम होती। ऐसा लगता है उसने पा लिया है, जान लिया है, सब ठीक-ठीक है। आगे अब कुछ करने को शेष नहीं रह गया है। प्राण इस तरह बूढ़े हो जाते हैं, व्यक्तित्व इस तरह जराजीर्ण हो जाता है और हजार वर्षों से इस देश का व्यक्तित्व जराजीर्ण है।

युवा चेतना का दूसरा लक्षण है साहस। भारत से साहस भी खो गया है, सीखना भी खो गया है, जिज्ञासा भी खो गई। हम तो अँधेरे में जाने से भी भयभीत होते हैं, अनजान रास्ते पर जाने से भयभीत होते हैं, सागर में उतरने से भयभीत होते हैं। जो इन अनजान चीजों से भयभीत होता है वह चेतना के अनजाने लोकों में कैसे प्रवेश करेगा, वहाँ वह डरकर लौट आयगा, वहीं बैठा रहेगा जहाँ है। जीवन की कुछ अनजान गहराइयाँ, ऊँचाइयाँ हैं, उनकी यात्रा भी बन्द है। हमने कुछ सूत्र याद कर लिये हैं, हम उन्हीं को याद करके चुप बैठे रह जाते हैं। व्यक्तित्व हमारी एक साहसपूर्ण खोज नहीं है, न बाहर का ही जगत है। हिमालय पर चढ़ने के लिए बाहर से यात्री आते रहे हैं, प्रतिवर्ष उनके दल के दल आते रहे हैं। वे मरते रहे, टूटते रहे, पहाड़ों से गिरते रहे, खोते रहे, लेकिन उनके दलों के आने में कमी नहीं हुई, वे आते रहे। हिमालय पर चढ़ना था, एक अज्ञात शिखर बाकी था जहाँ मनुष्य के पैर नहीं पहुँचे थे। लेकिन हम? हम हँसते रहे कि कैसे पागल हैं, क्या जरूरत है एवरेस्ट पर जाने की, क्या प्रयोजन है? क्यों अपनी जान जोखिम में डालते हैं? हम हँसते रहे कि ये पागल है, क्योंकि अपनी जान जोखिम में डालते हैं। हमने, जिनका एवरेस्ट है, उसपर चढ़ने की कोई तीव्र आकांक्षा पैदा नहीं की। यह सवाल एवरेस्ट पर चढ़ने का और हिन्द महासागर की गहराइयों में उतर जाने का ही नहीं है। इससे हमारे व्यक्तित्व का पता चलता है कि हम अज्ञान के प्रति आतुर हैं कि उसका पता उघाड़ लेंगे, उसे हम जानने में लग जायेंगे। फिर जीवन का बहुत-कुछ अज्ञान है, पदार्थ का अज्ञात लोक है, साइंस उसे खोजती है। हमने कोई साइंस विकसित नहीं की।

तीन हजार वर्ष के लंबे इतिहास में हमने कोई साइंस विकसित नहीं की। क्यों? एक ही उत्तर हो सकता है कि हमें आज्ञानता की पुकार सुनाई नहीं पड़ती। वह जो अज्ञात है, वह जो चारों तरफ से घेरे हुए है वह हमें बुलाता है लेकिन हमें सुनायी नहीं पड़ता। हम बहरे हो गए हैं, हमें तो, जो ज्ञात

है, उसी के घर में बैठकर जी लेते हैं और समाप्त हो जाते हैं। क्यों हमें अज्ञात की पुकार सुनाई नहीं पड़ती ? अज्ञात का आवाहन हमारे प्राणों को आंदोलित नहीं करता, क्यों ? इसलिये कि हमारे भीतर साहस नहीं है क्योंकि अज्ञात को जानने के लिए साहस चाहिए। ज्ञात को जानने के लिए किसी साहस की जरूरत नहीं है। इसीलिए तो भारत ने कभी भारतवासियों के बाहर जाकर अभियान नहीं किए। उन्होंने कोई लंबी यात्राएँ नहीं कीं, उन्होंने पृथ्वी की कोई खोज-बीन नहीं की। वे दूर-दूर उत्तर ध्रुवों तक नहीं गए, नहीं दक्षिण ध्रुव तक। न ही वे आज चाँद-तारों पर जाने की आकांक्षा से भरे हैं। साहस नहीं है। साहस की कमी होती है तो हम वहीं रहना चाहते हैं जहाँ परिचित लोग हैं, जहाँ जाना-माना है, उसी रास्ते पर चलते हैं जिसपर बहुत बार चल चुके हैं क्योंकि अनजान रास्ते पर काँटे हो सकते हैं, गड्ढे हो सकते हैं, भटकना हो सकता है। अनजान रास्ते पर भूल हो सकती है, अनजान रास्ते पर हम खो सकते हैं। इन सारे भयों ने हमें इतना पकड़ लिया है कि हम ज्ञात पर ही चलते हैं कोल्हू के बैल की तरह चक्कर लगाते रहते हैं। लकीर है जानी हुई, वह पीटते रहते हैं।

इस प्रकार कभी इस देश की आत्मा का उदय होगा ? ऐसे भयभीत होकर कभी इस देश के प्राण जागरूक हो सकेंगे ? ऐसे डरे-डरे हम जगत की दौड़ में साथ खड़े हो सकेंगे जहाँ चेतनाएँ दूर-दूर की यात्रा कर रही हों, जहाँ रोज अज्ञात की पुकार सुनी जाती हो, जहाँ रोज अज्ञात की दिशा में कदम रखे जाते हों, जहाँ जीवन के एक-एक रहस्य में प्रवेश करने की सारी चेष्टा की जा रही हो ? सारी दुनिया के युवकों के सामने हमारा बूढ़ा और पुराना देश खड़ा रह सकेगा ? हम जी सकेंगे उनके सामने ? नहीं, हम नहीं जी सकेंगे। और फिर हमारे नेता कहते हैं कि हमारा युवक सिर्फ नकल करता है। नकल नहीं करेगा तो क्या करेगा ? अपनी तो कोई खोज नहीं कर सकता है, इसलिए जो खोज करते हैं उनकी नकल करने के सिवा हमारे पास कुछ भी नहीं बचा है, हमारा पूरा व्यक्तित्व इमीटेशन है, पश्चिम का। हम पश्चिम की नकल कर रहे हैं। करेंगे हम, क्योंकि उनके साथ खड़े होने का इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। हमारी तो अपना कोई खोज नहीं है, हमारा तो अपना कोई उद्घाटन नहीं, अन्वेषण नहीं, हमारा तो अपना कोई शोध नहीं, हमारे तो अपने कोई रास्ते नहीं। हमें उनकी नकल करनी ही पड़ेगी। और ध्यान रहे, एक-

दो वार जव हम वाहर के जगत में नकल करना शुरू करते हैं तो भीतर हमारी आत्मा मरनी शुरू हो जाती है। क्यों ? क्योंकि आत्मा कभी भी नकल नहीं वन सकती। आत्मा कार्वन कापी नहीं वन सकती। आत्मा का अपना व्यक्तित्व है, अनूठा, यूनिक। और जव भी हम वाहर से नकल करना शुरू करते हैं तभी भीतर हमारे प्राण सिकुड़ जाते हैं, मुर्झा जाते हैं, क्योंकि उन प्राणों को अपनी प्रतिमा का अपना मार्ग होता है। वाहर से नकल करने वाले लोग भीतर से मर जाते हैं, लेकिन हम हमेशा नकल करते रहे हैं।

आप कहेंगे कि पश्चिम की नकल तो हमने अभी शुरू की है। पहले ? पहले हम अतीत की नकल करते थे। अव पश्चिम की नकल कर रहे हैं। इतना फर्क पड़ा है और कोई फर्क नहीं पड़ा। पहले हम जो वीत चुका था उसकी नकल करते थे, जो हो चुका था, जा चुका था, उस इतिहास की, जो पीछे था। उसकी हम नकल करते थे क्योंकि कंटेम्पररी जगत का हमें पता ही नहीं था। हमारे सामने एक ही वीता हुआ जगत था और हम थे, तो वीते की नकल करते थे। राम की, कृष्ण की, वुद्ध की, महावीर की हम नकल करते थे। हम अतीत की नकल करके जीते थे। अव हमारे सामने कंटेम्पररी वर्ल्ड खुल गया है। अव इतिहास धुंधला मालूम होता है। चारों तरफ फैली हुई दुनिया हमें ज्यादा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। हम उसकी नकल कर रहे हैं। लेकिन हम हजारों साल से नकल ही कर रहे हैं चाहे वीते हुए लोगों की और चाहे हमसे दूर जो आसपास खड़ा हुआ जगत है उसकी। लेकिन हमने अपनी आत्मा को विकसित करने की हिम्मत खो दी।

युवक साहस को पुनरुज्जीवित करना चाहता है वाहर के जगत-जीवन में भी और अंतस् के जगत और जीवन में भी। साहस जूट सके, वह कारा टूट सके, दीवालें टूट सकें और भीतर से साहस की धारा वह सके उसकी फिक्र करनी है। लेकिन हमारी सारी धारणाएँ साहस के विरोध में हैं। अगर साहस करना है तो संदेह करना पड़ेगा और अगर साहस नहीं करना है तो विश्वास कर लेना हमेशा अच्छा है। साहस करना है तो डाउट चाहिए और अगर साहस नहीं करना है तो फेथ, श्रद्धा, विश्वास। हमारा सारा देश विश्वास करनेवाला देश है। हमें जो कहा जाता है मान लेना है, उसपर सोचना नहीं है, विचार नहीं करना है क्योंकि सोचने और विचार करने में फिर खतरा है। हो सकता है मानी हुई मान्यताओं से विपरीत हमें जाना पड़े। शुतुर्मुर्ग निकलता

है और अगर दुश्मन उसका आ जाय तो वह रेत में मुँह गड़ा कर खड़ा हो जाता है। आँखें बन्द हो जाती हैं रेत में तो शुतुर्मुर्ग को दिखाई नहीं पड़ता है। दुश्मन खत्म हो जाता है। वह मान लेता है कि जो दिखाई नहीं पड़ता वह नहीं है। शुतुर्मुर्ग को क्षमा किया जा सकता है, आदमी को क्षमा नहीं किया जा सकता। लेकिन भारत शुतुर्मुर्ग के तर्क का उपयोग कर रहा है आजतक। वह कहता है, जो चीज नहीं दिखाई पड़ती वह नहीं है, इसलिए विश्वास का अंधापन ओढ़ लेता है और जीवन को देखना बन्द कर देता है। आँख बन्द कर लेने मे हम अंधे हो सकते हैं लेकिन तथ्य बदल नहीं जाते। हम सारे तथ्यों को छिपाकर जी रहे हैं, क्योंकि विश्वास की एक गैर साहसपूर्ण धारणा हमने पकड़ ली है। सन्देह की साहसपूर्ण यात्रा हमारी नहीं है। इस वजह से कि साहस कम हो गया है, अकेले होने की हिम्मत हमारी समाप्त हो गई है। और ध्यान रहे, युवक का अनिवार्य लक्षण है अकेले होने की हिम्मत। यह युवक होने का एक अनिवार्य लक्षण है। हम भीड़ के साथ खड़े हो सकते हैं। जहाँ सारे लोग जाते हैं वहाँ हम जा सकते हैं। हम वहाँ नहीं जा सकते जहाँ आदमी को अकेला जाना पड़ता है। नई जगह तो आदमी को सदा अकेला जाना पड़ता है। किसी एक व्यक्ति को अकेले चलने की हिम्मत करनी पड़ती है, क्योंकि भीड़ तो पहले प्रतीक्षा करेगी कि पता नहीं रास्ता कैसा है। अकेले आदमी को हिम्मत जुटानी पड़ती है। हमने अकेले होने की हिम्मत कब खो दी, पता नहीं। फिर वह जो यंग माइंड है वह हममें पैदा नहीं हो पाता।

अकेले होने का साहस एक-एक युवक में पैदा होना चाहिए। जिस दिन एक-एक युवक अकेला खड़े होने की हिम्मत करता है उसी दिन पहली बार उसकी आत्मा प्रकट होनी शुरु होती है। जब वह कहता है कि चाहे सारी दुनिया यह कहती हो लेकिन जबतक मेरा विवेक नहीं मानता, मैं अकेला खड़ा रहूँगा। मैं सारी दुनिया के प्रवाह के विपरीत तैरूँगा। नदी जाती है पूरब। मुझे नहीं प्रतीत होता। मुझे विवेक नहीं कहता कि मैं पूरब जाऊँ। मैं पश्चिम की तरफ जाऊँगा और टूट जाऊँगा, नदी की धार में। लेकिन कोई फिक्र नहीं। धार के साथ तभी तैरूँगा जब मेरा विवेक मेरे साथ होगा। जिस दिन कोई व्यक्ति जीवन की धारा के विपरीत अपने विवेक के अनुकूल तैरने की कोशिश करता है पहली बार उसके जीवन में वह चैलेन्ज आती है, वह संघर्ष आता है, वह स्ट्रगल आती है जिसमें संघर्ष और चुनौती में गुजर कर उसकी आत्मा

निखरती है, साफ होती है। आग से गुजर कर पहली दफा उसकी आत्मा कुन्दन बनती है, स्वर्ण बनती है। लेकिन वह साहस हमने खो दिया। अकेले होने की हिम्मत हमने खो दी।

मैंने सुना है, एक स्कूल में एक पादरी कुछ बच्चों को समझाने गया था। वह उन्हें नैतिक साहस की बावत समझाता था। उस पादरी से एक बच्चे ने पूछा कि आप कोई छोटी कहानी से समझा दें तो शायद हमें समझ में आ जाय। तो उस पादरी ने कहा कि तुम–जैसे तीस बच्चे अगर पहाड़ पर घूमने गए हों और दिनभर के थके–मांदे वापस लौटे हों, ठंडी हो रात, थकान हो, हाथ-पैर टूटते हों, बिस्तर आमंत्रण देता हो, बढ़िया बिस्तर हो, अच्छे कम्बल हों, उनमें सोने का मन होता हो, उन्तीस लड़के शीघ्र जाकर अपने-अपने बिस्तरों पर सो गए हैं, सर्दी की रात में। लेकिन एक बच्चा एक कोने में बैठकर घुटने टेक कर रात्रि की अंतिम प्रार्थना कर रहा है। तो उस पादरी ने कहा कि उस बच्चे को मैं कहता हूँ कि उसमें साहस है, जबकि उन्तीस बच्चे सोने के लिए चले गए हैं। उन्तीस बच्चों का टेम्पटेशन है। भीड़ के साथ होने की सुविधा है। कोई कुछ कहेगा नहीं, कुछ कहने की बात नहीं है, लेकिन नहीं, वह अपनी रात्रि की अंतिम प्रार्थना पूरी करता है और वह भी सर्द रात में थके हुए। इसे मैं साहस कहता हूँ—नैतिक साहस, अकेले होने का साहस। महीने भर बाद वह फिर आया उस स्कूल में और उसने कहा कि पिछली बार मैंने नैतिक साहस के बारे में बात कही थी। क्या तुम कोई नैतिक साहस की कहानी सुना सकते हो? एक बच्चा खड़ा हुआ। उसने कहा कि मैंने बहुत सोचा और मुझे याद आया कि उससे भी बड़ा नैतिक साहस की एक घटना हो सकती है। उस बच्चे ने कहा—मान लीजिए आप–जैसे ३० पादरी पहाड़ पर गए हुए हैं दिन भर के थके-मांदे, भूखे-प्यासे। रात सर्द है, वापस लौटे हैं। तीसों पादरी हैं, दिन भर की थकान, ठण्डी रात, आधी रात। २९ पादरी प्रार्थना करने बैठ गए हैं और एक पादरी बिस्तर पर जाकर सो गया है। उस बच्चे ने कहा, यह पहले साहस से ज्यादा बड़ा साहस है, क्योंकि हो सकता है कि पहला बच्चा यह सोच रहा हो कि मैं धार्मिक हूँ और ये सब नास्तिक, अधार्मिक सो रहे हैं। सो जाओ, नर्क में सड़ोगे, यह सोच सकता है वह बच्चा। अक्सर धार्मिक और प्रार्थना करनेवाले लोग इसी भाषा में सोचते हैं कि दूसरे को कैसे नर्क में सड़वा दें। जो चिंतन या प्रार्थना करते हैं, उपवास करते हैं उतना ही क्रोध

उनका दुनिया के ऊपर बढ़ता चला जाता है। वे कहते हैं, एक-एक को नर्क में डलवा देंगे। सड़क पर जिसको भी देखते हैं कि कुछ चमकदार और रंगीन, खूबसूरत कपड़े पहने हुए है, मन ही में सोचते हैं, नर्क में सड़ोगे। किसी को थोड़ा मुस्कराते देखते हैं तो सोचते हैं सड़ोगे नर्क में। वह अपनी गमगीन और रोती हुई आत्मा का बदला तो लेंगे किसी से। उस बच्चे ने कहा कि वह बच्चा यह मजा ले रहा हो कि कोई फिक्र नहीं, आज मैं अकेला हूँ तो कोई फिक्र नहीं है, नर्क की अग्नि में सड़ोगे तो मैं अकेले खड़ा देखूँगा, २९ सड़ते होंगे। इसलिए, वह साहस बहुत बड़ा नहीं भी हो सकता है, लेकिन दूसरा साहस, उसने कहा, बहुत बड़ा है। २९ पादरी जब स्वर्ग जाने की व्यवस्था कर रहे हैं, तब एक बेचारा नर्क जाने की तैयारी कर रहा है, तब उसे कोई सांत्वना भी नहीं है कि इनको नर्क भेज दूंगा, टेम्पटेशन बड़ा है तब उसे यह भी पता है कि यह २९ दुनिया में जाकर कल सुबह क्या कहेंगे। हो सकता है रात भी न सो पाये। धार्मिक आदमी बड़े खतरनाक होते हैं। हो सकता है, आधी रात में पड़ोसी को जगा कर वह आयें कि पता है, उस पादरी की अब फिक्र मत करना, वह आदमी भ्रष्ट हो गया है, उसने आज प्रार्थना नहीं की। चाहे पहला साहस रहा हो या दूसरा, लेकिन साहस का अर्थ हमेशा अकेले होने का साहस है।

क्या आप युवक हैं? अगर युवक हैं तो ध्यान रहे जीवन में अकेले खड़ा होने की हिम्मत जुटानी पड़ती है। अकेले खड़ा होने का अर्थ होता है विवेक को जगाना, क्योंकि जो विवेक को नहीं जगा सके वह अकेला खड़ा नहीं हो सकता। इसलिए तीसरी बात युवक चाहता है कि इस देश में व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर विवेक, बोध, समझ को जगाने की कोशिश होनी चाहिए, क्योंकि अकेला आदमी तभी अकेला हो सकता है, चाहे दुनिया उसके साथ न हो, पर उसके साथ विवेक है। उसकी आँखों में स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि जो वह कर रहा है वह ठीक है। उसका तर्क, उसके प्राण उससे कह रहे हैं कि वह जो कर रहा है वह ठीक है चाहे सारी दुनिया विपरीत हो।

जीसस जिस दिन सूली पर लटकाया होगा, वह जवान आदमी रहा होगा। उम्र से भी वह जवान था, ३३ वर्ष की उम्र थी लेकिन वह ७० वर्ष का भी होता तो कोई फर्क नहीं पड़ता। जीसस युवा आदमी था। सारी दुनिया उसके विपरीत थी। एक लाख आदमी इकट्ठे थे उसे सूली पर लटकाने को।

सामने खड़ा हो जाता है। उसके पास भीतर और कुछ भी नहीं है। यह बड़ी दयनीय अवस्था है। यह बहुत दुखद है और फिर इस स्थिति में फस्ट्रेशन पैदा होता है, विषाद पैदा होता है, तनाव पैदा होता है, क्रोध पैदा होता है। और उस क्रोध में वह समाज को तोड़ने में लग जाता है, चीजें नष्ट करने में लग जाता है। आज सारे मुल्क का बच्चा-बच्चा क्रोध से भरा है। क्रोध में वह कुर्सियाँ तोड़ रहा है, बसें जला रहा है। मुल्क के नेता कहते हैं, कुर्सियाँ मत तोड़ो, बसें मत जलाओ, लेकिन वे भी जानते हैं कि कुर्सियाँ तोड़ कर, बसें जला कर और शीशे फोड़ कर वे नेता हो गए हैं। उनकी सारी नेतागिरी इसी तरह की तोड़-फोड़ पर खड़ी हो गई है। बच्चे भी जानते हैं कि नेता होने की तरकीब यही है कि कुर्सियाँ तोड़ो, मकान तोड़ो, आग लगाओ। इसलिए वे पुराने नेता जो कल यही करते रहे थे आज वही दूसरे को समझायेंगे। वह समझ में आने वाली बात नहीं है। फिर उन नेताओं को यह भी पता नहीं है कि कुर्सियाँ तोड़ी जा रही हैं, यह सिर्फ सिम्बालिक है। कुर्सियों से बच्चों को क्या मतलब हो सकता है? किसी आदमी को कुर्सी तोड़ने या बस जलाने से क्या मतलब हो सकता है? बस से किसी की दुश्मनी है? ऐसा पागल आदमी खोजना मुश्किल है जिसकी बस से दुश्मनी हो। यह सवाल नहीं है। यह बिलकुल असंगत है। इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। युवक है भीतर अशान्त, पीड़ित और परेशान। आदमी कुछ भी तोड़ लेता है तो थोड़ी-सी राहत मिल जाती है।

एक मनोवैज्ञानिक के पास एक बीमार को लाया गया। वह एक दफ्तर में नौकर था। उस दफ्तर में उसका मालिक उसे कभी बुरा शब्द बोलता, कभी अपमानित कर देता। मालिक के खिलाफ वह कुछ कर नहीं सकता था। लेकिन भीतर क्रोध तो आता था। क्रोध आता था तो घर जाकर पत्नी पर टूट पड़ता था। क्रोध आता था तो कभी गुस्से में अपनी चीजें तोड़ देता था। लेकिन फिर ख्याल में आता था, यह क्या पागलपन है। क्रोध बढ़ता चला गया। फिर उसके मन में ऐसा होने लगा कि जो कुछ हो, एक दिन जूता निकालकर मालिक की सेवा कर दी जाय। हाथ उसके जूते पर जाने लगे तो वह बहुत घबराया कि यह तो बहुत खतरनाक बात हुई जा रही है। अगर जूता मैंने मार दिया तो मुश्किल में पड़ जाऊँगा। फिर वह जूता घर छोड़कर आने लगा, क्योंकि किसी भी दिन खतरा हो सकता था। वह जूता तो केवल

अकारण पत्थर फेंकते हैं, शोरगुल करते हैं। सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। सड़कों पर नाचते हैं, गालियाँ बकते हैं, शराब पीते हैं, और फिर, चौहट्टों पर इकट्ठे होकर विचार करते हैं कि हम आज ऐसा क्या करें कि पुलिस हमें जेल भेज सके। कोई कारण नहीं है, कोई झगड़ा नहीं है, कोई फीस कम नहीं करवानी है, कुछ और मामला नहीं है, लेकिन क्रोध इतना इकट्ठा है कि उसको निकालना चाहिए। यहाँ भी यही बात है। नेता चिल्लाते रहते हैं, कुछ नहीं होता है, क्योंकि नेता खुद अशान्त और परेशान हैं। राजनीतिज्ञों से ज्यादा अशान्त आदमी पृथ्वी पर और कौन हो सकता है? वे बेचारे कहते हैं शांति रखो, शांति रखो। लेकिन उनके भीतर भी अशांति चलती है, उनकी शांति का कोई अर्थ नहीं। उन्हें पता भी नहीं है कि क्या हो रहा है मनुष्य की चेतना में। मनुष्य की चेतना ने ज्ञान तो अर्जित कर लिया है, बुद्धिमत्ता अर्जित नहीं की। मनुष्य की चेतना ने सूचनाएँ तो इकट्ठी कर ली हैं, लेकिन चेतना ज्ञानवान नहीं हो पाई। मनुष्य ने महत्वाकांक्षा तो सीख ली है और सारी शिक्षा का एक ही फल हुआ है कि आदमी को महत्वाकांक्षी बना दिया है। लेकिन शांति उसके पास बिलकुल नहीं है। व्यक्ति को चाहिए शांति और समाज को चाहिए क्रांति। व्यक्ति को इतना शांत होना चाहिए कि उसके भीतर कोई पीड़ा, कोई दुख, कोई क्रोध न रह जाय। हमारा समाज है गलत, समाज है रुग्ण, समाज है कुरूप। हजारों साल की बेवकूफियों के आधार पर हमारा समाज निर्मित है। उन सब बेवकूफियों को आग लगा देना है। आज हिन्दुस्तान में शुद्र हैं। आज भी बीसवीं शती में, मनु महाराज ने तीन हजार वर्ष पहले जिन शुद्रों को खड़ा किया था, वे अब भी खड़े हैं। करोड़ों लोगों को आज भी जीव-स्थिति उपलब्ध नहीं है। उसे तोड़ देना पड़ेगा। हजारों वर्षों से स्त्रियों को गुलाम की तरह खड़ा किया गया है। आज नाम को वे स्वतंत्र मालूम पड़ती हैं लेकिन आज भी वे स्वतंत्र नहीं हैं। आज भी शिष्ट से शिष्ट नगर में किसी लड़की का रात अकेले निकलना असम्भव है। यह कोई स्वतंत्रता है? सोचना है फिर से कि इन तीन हजार वर्षों में जो हमने किया है उसमें हमारे जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है वह गलत रहा होगा, अन्यथा स्त्री और पुरुष के बीच ऐसा दुर्भाव नहीं हो सकता था जैसा दुर्भाव है। स्त्री और पुरुष दो अलग जाति के प्राणी मालूम होते हैं, एक ही जाति के प्राणी नहीं मालूम होते। ऐसा मालूम होता है कि ये अलग ही दो तरह की

कौमें हैं। वे साथ-साथ किसी तरह जीती हैं। इतनी लम्बी दीवाल खड़ी की है आदमी और औरत के बीच। मर्द और औरत के बीच जितनी बड़ी दीवाल उठायी गई है उतनी ही मुश्किल होती चली गई है, क्योंकि जितनी बड़ी रुकावट डाली जाती है उतना ही आकर्षण तीव्र हो जाता है। स्त्री और पुरुष के बीच जितना फासला पैदा किया गया है, उनको उतना ही कामुक बनाया गया है। वे सारे फासले तोड़े जाने जरूरी हैं। स्त्री और पुरुष को निकट लाना जरूरी है ताकि यह सम्भव न रह जाय कि कोई स्त्री को धक्का दे। उन्हें साथ खेलना है बचपन से, साथ पढ़ना है बचपन से।

समाज को क्रांति चाहिए। काम के प्रति एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण और परिवर्तन चाहिए, तभी हम स्वस्थ हो सकेंगे। अर्थ के प्रति एक क्रांति से गुजरने की जरूरत है। यह क्या बात है, इतना बड़ा मुल्क गरीब होता चला जाय और थोड़े से लोगों के पास पैसे इकट्ठे होते चले जायें? बरदाश्त करने के बाहर है कि सारी सम्पदा एक तरफ इकट्ठी हो जाय और सारा मुल्क नंगा, दीनहीन, दुखी और पीड़ित हो जाय। नहीं, मुल्क में आर्थिक क्रांति की जरूरत है। संपत्ति का समान वितरण जरूरी है। संपत्ति सबतक पहुँचनी चाहिए, सबकी है, जैसे आकाश सबका है, पृथ्वी सबकी है, संपत्ति भी सबकी है। संपत्ति राष्ट्र की हो, समाज की हो, व्यक्ति की नहीं। व्यक्तिगत संपत्ति से मुक्त हुए बिना इस देश के जीवन में कभी सुख का उदय नहीं हो सकता—कितना ही हम चिल्लायें कि भ्रष्टाचार न हो, चोरी न हो, बेईमानी न हो। वह होगी, क्योंकि जबतक संपदा एक तरफ इकट्ठी होगी, एक तरफ शोषक होंगे और दूसरी तरफ शोषितों का बड़ा समाज होगा, तबतक चोरी कैसे बन्द होगी, बेईमानी कैसे बन्द होगी, भ्रष्टाचार कैसे बन्द होगा? नहीं, बन्द न होगा। चाहे ऋषि-मुनि कितना ही समझायें, ऋषि-मुनि कितना ही कहें कि धैर्य रखो, संतोष रखो, चोरी मत करो, कितना ही समझायें, कोई सुनेगा नहीं। उनके चिल्लाने से कुछ भी नहीं होगा। वे चिल्लाते रहेंगे और कुछ भी नहीं होगा। उनके चिल्लाने से सिर्फ एक फर्क पड़ता है, वे सच्चा आदमी तो पैदा नहीं कर पाते, पाखंडी जरूर पैदा कर देते हैं। पाखंडी आदमी का मतलब यह कि वह कहेगा कि मैं कहाँ चोरी करता हूँ? मैं तो अणुव्रती हूँ, मैं तो अणुव्रत का पालन करता हूँ, मैं तो मानता हूँ कि कम से कम में संतोष रख लेना चाहिए। मैं तो धार्मिक आदमी हूँ, मैं कहाँ चोरी करता हूँ? ऊपर से वह एक चेहरा बनायेगा,

ज़िसपर तिलक लगा हुआ है, चोटी बँधी हुई और पीछे एक दूसरा ही आदमी होगा जो दिखाई पड़ जाय तो आप पहचान नहीं सकेंगे कि क्या यह वही सज्जन हैं ? वह भीतर जो आदमी छिपा हुआ है वह विलकुल दूसरा है। रोशनी में वह दूसरा दिखाई पड़ता है, अँधेरे में वह आदमी विलकुल दूसरा है। रौशनी में वह वड़ा धार्मिक मालूम पड़ता है। मंदिर में पूजा करता दिखाई पड़ता है, अंधेरे में लोगों की जेबें काट रहा है, उनकी गर्दनें काट रहा है। पाखंडी आदमी पैदा हो गया है, यह हिपोक्रिटिकल ह्यूमैनिटी पैदा हो गयी है।

यह कैसे पैदा हो गई है ? यह इससे पैदा हो गई है कि जहाँ जिन्दगी का असली सवाल है वहाँ हम उनको वदलना नहीं चाहते और झूठी वातें वदलने की वातें करते हैं। कहते हैं भ्रष्टाचार मिटायेंगे। जव तक शोषण है तवतक कुछ भी नहीं मिट सकता। शोषण मिटेगा तो यह सव मिट जायगा। शोषण के मिटते ही चोरी समाप्त हो जाती है। जवतक व्यक्तिगत संपत्ति है दुनिया में तवतक चोरी रहेगी। न अदालतें रोक सकती हैं, न जज रोक सकते हैं, न पुलिस रोक सकती है। सिर्फ इतना ही होगा कि पुलिस भी चोरी करेगी, अदालत भी चोरी करेगी, जज भी चोरी करेगा, नेता भी चोरी करेंगे। कुछ भी नहीं रुकने वाला है। व्यक्तिगत संपत्ति के जाते ही चोरी जायगी क्योंकि व्यक्तिगत संपत्ति की वाई-प्रोडेक्ट है चोरी। वह उससे पैदा हुई है, वह उसके साथ ही जा सकती है, उसके विना नहीं जा सकती।

देश को और वहुत तलों पर क्रांति की जरूरत है, पारिवारिक क्रांति की जरूरत है, शैक्षणिक क्रांति की जरूरत है। देश को आमूल क्रांति की जरूरत है, पूरी जड़ें वदलने की जरूरत है। युवक समाज में एक क्रांति लाना चाहता है, खवर पहुँचाना चाहता है गाँव-गाँव तक, एक-एक व्यक्ति तक कि सोचो, विचार करो, जिन्दगी कहाँ-कहाँ वदलने-जैसी है उसे वदलना है। व्यक्ति को चाहिए शांति और समाज को चाहिए क्रांति। एक वैचारिक वातावरण, एक पुनर्जागरण पैदा करने की जरूरत है। युवकों का कोई आज राजनीतिक सवाल नहीं है, न कोई लक्ष्य है। राजनीति से उन्हें कुछ सीधा लेना नहीं है। इस मुल्क में अभी तो जरूरत है एक मानसिक परिवर्तन की। मुल्क की आत्मा को क्रांति के लिए तैयार करने की आवश्यकता है। उससे अपने आप राजनीति भी वदल जायगी, अपने आप उसे वदलना पड़ेगा। अभी तो देश की आत्मा को सव पहलुओं पर क्रांति की दृष्टि, सिर्फ दृष्टि काफी है, अभी तो एक

जीवन और मृत्यु

जीवन क्या है, मनुष्य इसे नहीं जानता। और चूंकि वह जीवन को ही नहीं जानता, इसलिए मृत्यु को जानने की कोई सम्भावना शेष नहीं रह जाती। जीवन ही अपरिचित और अज्ञात हो तो मृत्यु परिचित और ज्ञात नहीं हो सकती। सच तो यह है कि चूंकि हमें जीवन का पता नहीं, इसलिए ही मृत्यु घटित होती है। जो जीवन को जानते हैं उनके लिए मृत्यु असम्भव शब्द है— जो न कभी था, न है और न होगा। जगत् में कुछ शब्द बिलकुल झूठे हैं—उन शब्दों में कुछ भी सत्य नहीं है। उन्हीं शब्दों में 'मृत्यु' भी एक शब्द है जो नितान्त असत्य है। मृत्यु जैसी घटना कभी भी नहीं घटती। लेकिन हम लोगों

को रोज मरते देखते हैं, चारों तरफ मृत्यु घटती हुई मालूम होती है। गाँव-गाँव में मरघट हैं और ठीक से हम समझें तो ज्ञात होगा कि जहाँ-जहाँ हम खड़े हैं वहाँ-वहाँ न मालूम कितने मनुष्यों की अर्थी जल चुकी होगी! भूमि के वे सभी स्थल जहाँ हमारे घर बने हैं, कभी मरघट रह चुके हैं! करोड़ों लोग मर चुके हैं, करोड़ों रोज मर रहे हैं और रोज मरेंगे। इसलिए यदि मैं यह कहूँ कि मृत्यु जैसा झूठा शब्द नहीं है मनुष्य की भाषा में तो आश्चर्य होगा ही।

एक फकीर था तिब्बत में। उस फकीर के पास कोई गया और कहने लगा कि मैं जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ पूछने आया हूँ। फकीर हँसने लगा—'अगर जीवन के सम्बन्ध में पूछना हो तो जरूर पूछो, क्योंकि जीवन का मुझे पता है। रही मृत्यु, तो मृत्यु से आज तक मेरा कोई मिलन नहीं हुआ, उससे मेरी कोई पहचान नहीं। मृत्यु के सम्बन्ध में पूछना हो तो उन्हें पूछो जो मर ही गए हैं या मर चुके हैं। मैं तो जीवन हूँ, मैं जीवन के सम्बन्ध में बोल सकता हूँ, बता सकता हूँ। मृत्यु से मेरा कोई परिचय नहीं।

यह बात वैसी है जैसी कि एक बार अंधकार ने भगवान से जाकर प्रार्थना की थी कि तुम्हारा यह सूरज मेरे पीछे बहुत बुरी तरह पड़ा हुआ है। मैं बहुत थक गया हूँ। सुबह से पीछा करता है तो साँझ में मुश्किल से छोड़ता है। मेरा कसूर क्या है? दुश्मनी कैसी है यह, यह सूरज क्यों मेरे पीछे पड़ा है? दिन भर पीछे दौड़ता रहता है और रात भर मैं दिन भर की थकान से विश्राम भी नहीं कर पाता हूँ कि फिर सुबह सूरज ऊपर आकर द्वार पर खड़ा हो जाता है। फिर भागो! फिर बचो! यह अनंत काल से चल रहा है। अब मेरी धैर्य की सीमाएँ आ गईं और मैं प्रार्थना करता हूँ, इस सूरज को समझा दें। सुनते हैं, भगवान ने सूरज को बुलाया और कहा कि तुम अँधेरे के पीछे क्यों पड़े हो? क्या बिगाड़ा है अँधेरे ने तुम्हारा? क्या है शत्रुता, क्या है शिकायत? सूरज कहने लगा, अँधेरा! अनंत काल हो गया मुझे विश्व का परिभ्रमण करते हुए लेकिन अबतक अँधेरे से मेरी कोई मुलाकात नहीं हुई। अँधेरे को मैं जानता ही नहीं। कहाँ है अँधेरा? आप उसे मेरे सामने बुला दें तो मैं क्षमा भी माँग लूँ और आगे के लिए पहचान लूँ कि वह कौन है ताकि उसके प्रति कोई भूल न हो सके।

इस बात को हुए अनंत काल हो गए। भगवान की फाइल में वह बात वहीं की वहीं पड़ी है। वह अबतक अँधेरे को सूरज के सामने नहीं बुला सके,

नहीं बुला सकेंगे। यह मामला हल होने का नहीं है। सूरज के सामने अंधकार कैसे बुलाया जा सकता है ? अंधकार की कोई सत्ता ही नहीं है। अंधकार की कोई विधायक स्थिति नहीं है। अंधकार तो सिर्फ प्रकाश के अभाव का नाम है। वह प्रकाश की गैर मौजूदगी है, अनुपस्थिति है। तो सूरज के सामने ही सूरज की अनुपस्थिति को कैसे बुलाया जा सकता है ? नहीं, अंधकार को सूरज के सामने नहीं लाया जा सकता। सूरज तो बहुत बड़ा है, एक छोटे से दीए के सामने भी अंधकार को लाना असम्भव है। दीए के प्रकाश के घेरे में अंधकार का प्रवेश असंभव है। प्रकाश है जहाँ, वहाँ अंधकार कैसे आ सकता है ! जीवन है जहाँ, वहाँ मृत्यु कैसे आ सकती है ! या तो जीवन है ही नहीं, या फिर मृत्यु नहीं है। दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

हम जीवित हैं, लेकिन हमें पता नहीं कि जीवन क्या है। इस अज्ञान के कारण ही हमें ज्ञात होता है कि मृत्यु घटती है। मृत्यु एक अज्ञान है। जीवन का अज्ञान ही मृत्यु की घटना बन जाती है। काश, हम उस जीवन से परिचित हो सकें जो भीतर है ! उसके परिचय की एक किरण भी सदा-सदा के लिए इस अज्ञान को तोड़ देती है कि मैं मर सकता हूँ या कभी मरा हूँ या कभी मर जाऊँगा। लेकिन उस प्रकाश को हम जानते नहीं हैं, जो हम हैं और उस अंधकार से भयभीत होते हैं, जो हम नहीं हैं। उसके प्रकाश से हम परिचित नहीं हो पाते जो हमारा प्राण है, हमारा जीवन है, जो हमारी सत्ता है और उस अंधकार से हम भयभीत होते हैं जो हम नहीं हैं।

मनुष्य मृत्यु नहीं, अमृत है। हमारा समस्त जीवन अमृत है लेकिन हम अमृत की ओर आँख ही नहीं उठाते। हम जीवन की दिशा में कोई खोज ही नहीं करते, एक कदम भी नहीं उठाते। जीवन से रह जाते हैं अपरिचित और इसलिए मृत्यु से भयभीत प्रतीत होते हैं। इसलिए प्रश्न जीवन और मृत्यु का नहीं है, प्रश्न है सिर्फ जीवन का। मुझे कहा गया है कि मैं जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में बोलूँ। यह असंभव बात है। प्रश्न तो है सिर्फ जीवन का, मृत्यु-जैसी कोई चीज ही नहीं है। जीवन ज्ञात होता है तो जीवन रह जाता है और जीवन ज्ञात नहीं होता तो सिर्फ मृत्यु रह जाती है। जीवन और मृत्यु दोनों एक साथ कभी भी समस्या की तरह खड़े नहीं होते। या तो हमें पता है कि हम जीवन हैं, तो फिर मृत्यु नहीं है और अगर हमें पता नहीं है कि हम जीवन हैं तो फिर मृत्यु ही है, जीवन नहीं है। ये दोनों बातें एक साथ मौजूद

नहीं होती हैं, नहीं हो सकती हैं। लेकिन हम सारे लोग तो मृत्यु से भयभीत हैं। मृत्यु का भय बताता है कि हम जीवन से अपरिचित हैं। मृत्यु के भय का एक ही अर्थ है—जीवन से अपरिचय। जो हमारे भीतर प्रतिपल प्रवाहित हो रहा है, श्वाँस-श्वाँस में, कण-कण में चारों ओर, भीतर-बाहर सब तरफ, उससे ही हम अपरिचित हैं। इसका एक ही अर्थ हो सकता है कि आदमी किसी गहरी नींद में है। नींद में ही हो सकती है यह संभावना कि जो हम हैं उससे भी अपरिचित हों। हम किसी गहरी मूर्छा में हैं। हमारे प्राणों की पूरी शक्ति सचेतन नहीं है, अचेतन है, बेहोश है। आदमी सोया हो तो उसे फिर भी पता नहीं रह जाता कि मैं कौन हूँ? क्या हूँ? कहाँ स हूँ? नींद के अंधकार में सब डूब जाता है और उसे कुछ पता नहीं रह जाता कि मैं हूँ भी या नहीं हूँ? नींद का पता भी उसे तब चलता है जब वह जागता है।

जरूर कोई बहुत गहरी आध्यात्मिक नींद, कोई आध्यात्मिक सम्मोहन की तंद्रा (Spiritual Hypnotic Sleep) मनुष्य को घेरे हुए है इसलिए उसे जीवन का ही पता नहीं चलता कि जीवन क्या है। लेकिन हम कहेंगे, आप कैसी बात करते हैं, हमें पूरी तरह पता है कि जीवन क्या है। हम जीते हैं, चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, सोते हैं। एक शराबी भी तो चलता है, उठता है, बैठता है, सोता है श्वाँस लेता है, आँख खोलता है, बात करता है। एक पागल भी तो उठता है, बैठता है, श्वाँस लेता है, बात करता है, जीता है। लेकिन इससे न तो शराबी होश में कहा जा सकता है और न पागल सचेतन है, यह कहा जा सकता है।

एक सम्राट् की सवारी निकली। एक आदमी चौराहे पर खड़ा होकर पत्थर फेंकने लगा और अपशब्द बोलने लगा और गालियाँ बकने लगा। सम्राट् की शोभायात्रा थी। उस आदमी को तत्काल सैनिकों ने पकड़ लिया और कारागृह में डाल दिया। लेकिन जब वह गालियाँ बकता था और अपशब्द बोलता था तो सम्राट् हँसता था। उसके सैनिक हैरान हुए। उसके वजीर ने कहा, "आप हँसते क्यों हैं?" सम्राट् ने कहा, "जहाँ तक मैं समझता हूँ, उस आदमी को पता नहीं है कि वह क्या कर रहा है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, वह आदमी नशे में है। खैर, कल सुबह उसे मेरे सामने ले आओ।" सुबह वह आदमी सम्राट् के सामने लाया गया। सम्राट् उससे पूछने लगा, "कल तुम मुझे गाली देते थे, अपशब्द बोलते थे? क्या कारण था?" उस आदमी ने कहा, "मैं!

और अपशब्द बोलता था ! नहीं महाराज, मैं नहीं रहा होऊँगा, इसलिए अपशब्द बोले गए होंगे । मैं शराब में था, मैं बेहोश था, मैं था ही नहीं, मुझे कुछ पता नहीं कि मैं क्या बोला ।"

हम भी नहीं हैं । नींद में हम चल रहे हैं, बोल रहे हैं, बात कर रहे हैं, प्रेम कर रहे हैं, घृणा कर रहे हैं, युद्ध कर रहे हैं । अगर कोई दूर तारे से मनुष्य-जाति को देखे तो वह यही समझेगा कि सारी मनुष्य-जाति इस भाँति व्यवहार कर रही है जिस भाँति नींद में, बेहोशी में, कोई व्यवहार करता है । तीन हजार वर्षों में मनुष्य-जाति ने १५ हजार युद्ध किए । यह जागे हुए मनुष्य का लक्षण नहीं है । जन्म से लेकर मृत्यु तक सारी कथा मृत्यु की, चिंता की, दु:ख की, पीड़ा की कथा है । आनन्द का एक क्षण भी उपलब्ध नहीं होता, आनन्द का एक कण भी नहीं मिलता । खबर भी नहीं मिलती कि आनन्द क्या है । जीवन बीत जाता है और आनन्द की झलक भी नही मिलती । ऐसा आदमी होश में नहीं कहा जा सकता । दुख, चिन्ता, पीड़ा, उदासी और पागलपन—जन्म से लेकर मृत्यु तक की कथा है, लेकिन शायद हमें पता नहीं चलता क्योंकि हमारे चारों तरफ भी हमारे-जैसे ही सोए हुए लोग हैं । कभी अगर एकाध जागा हुआ आदमी पैदा हो जाता है तो हम सोए हुए लोगों को इतना क्रोध आता है उस जागे हुए आदमी पर कि हम जल्दी ही उस आदमी की हत्या कर देते हैं । हम ज्यादा देर उसे बरदाश्त नहीं करते । जीसस क्राइस्ट को हम इसलिए सूली पर लटका देते हैं कि तुम्हारा कसूर यह है कि तुम जागे हुए आदमी हो । हम सोए हुए लोगों को तुम्हें देखकर बहुत अपमानित होना पड़ता है । हम सोए हुए आदमियों के लिए तुम एक अपमानजनक चिह्न बन जाते हो । तुम जागे हुए हो—तुम्हारी मौजूदगी हमारी नींद में बाधा डालती है । हम सुकरात को जहर पिलाकर मार डालते हैं, हम जागे हुए आदमियों के साथ वही व्यवहार करते हैं जो पागलों की बस्ती में उस आदमी के साथ होगा जो पागल नहीं है ।

मेरे एक मित्र पागल थे । वे एक पागलखाने में बन्द कर दिए गए । पागलपन में उन्होंने फिनाइल की एक बाल्टी, जो पागलखाने में रखी थी, पी ली । उसके पी जाने से उनको इतनी उल्टियाँ हुई; इतने दस्त लगे कि पन्द्रह दिन में सारा शरीर रूपान्तरित हो गया । उनकी सारी गर्मी जैसे शरीर से निकल गई और वे ठीक हो गए । लेकिन उन्हें तो छह महीने के लिए पागल-

खाने में भेजा गया था। ठीक हालत में भी तीन माह उन्हें और रहना पड़ा। बाद में उन्होंने मुझसे कहा कि तीन महीने तक ठीक होकर जब मैं पागलखाने में रहा तब जो पीड़ा मैंने अनुभव की उसका हिसाब लगाना बहुत मुश्किल है। जबतक मैं पागल था तबतक कोई कठिनाई नहीं थी क्योंकि और भी सब मेरे जैसे लोग थे। जब मैं ठीक हो गया तब मुझे लगा कि मैं कहाँ हूँ। मैं सो रहा हूँ और दो आदमी मेरी छाती पर सवार हो गए हैं। मैं चल रहा हूँ और कोई मुझे धक्के मार रहा है। मुझे पहले कुछ भी पता नहीं चलता था क्योंकि मैं भी पागल था। मुझे यह भी पता नहीं चलता था कि ये लोग पागल हैं जबतक मैं पागल था।

हमारे चारों तरफ सोए हुए लोगों की भीड़ है। इसलिए हमें पता नहीं चलता कि हम सोए हुए आदमी हैं। जागे हुए आदमी की हम जल्दी से हत्या कर देते हैं क्योंकि वह आदमी हमें बहुत कष्टपूर्ण मालूम होने लगता है, बहुत विघ्नकारक मालूम होने लगता है। चूँकि हमारी नींद सार्वजनिक है, सार्वभौमिक है और हम जन्म से ही सोए हुए हैं, इसलिए हमें पता नहीं चलता। इस नींद में हम जीवन को समझ नहीं पाते। शरीर को ही जीवन समझ लेते हैं और शरीर के भीतर जरा प्रवेश नहीं हो पाता। यह समझ वैसी ही है जैसे किसी राजमहल के बाहर दीवाल के आस-पास कोई घूमता हो और समझता हो कि यह राजमहल है। दीवाल पर, बाहर की दीवाल पर, चारदीवारी पर, परकोटे पर कोई घूमता हो और सोचता हो कि राजमहल है और परकोटे की दीवाल पर टिक कर सो जाता हो और सोचता हो कि महलों में विश्राम कर रहा हूँ। शरीर के आसपास जिसको जीवन का बोध है वह उसी नासमझ आदमी की तरह है जो महल की दीवाल के बाहर खड़ा होकर समझता है कि महल का मेहमान हो गया हूँ। शरीर के भीतर हमारा कोई प्रवेश नहीं है, हम शरीर के बाहर जीते हैं। बस शरीर की पर्त, बाहर की पर्त को हम जानते हैं। भीतर की पर्त का कोई पता हमें नहीं चलता। दीवाल के भीतर का ही हिस्सा पता नहीं चलता, महल तो बहुत दूर है। दीवाल के बाहर के हिस्से को ही महल समझते हैं, दीवाल के भीतर के हिस्से तक से परिचय नहीं हो पाता।

हम अपने शरीर को अपने से बाहर से जानते हैं, हमने कभी भीतर खड़े होकर भी शरीर को नहीं देखा है भीतर से। जैसे मैं इस कमरे के भीतर बैठा हूँ, आप इस कमरे के भीतर बैठे हैं। हम इस कमरे को भीतर से देख रहे हैं। एक आदमी बाहर घूम रहा है। वह इस मकान को बाहर से देख रहा है।

आदमी अपने शरीर के घर को भीतर से भी देखने में समर्थ नहीं हो पाता, बाहर से ही जानता है। जिसे हम बाहर से जानते हैं वह केवल खोल है, वह केवल बाहरी वस्त्र है, वह केवल मकान के बाहर की दीवाल है। घर का मालिक भीतर है। उस भीतर के मालिक से तो पहचान ही हमारी नहीं हो पाती। भीतर की दीवाल तक से पहचान नहीं हो पाती तो भीतर के मालिक से कैसे पहचान होगी ?

बाहर से इस जीवन का अनुभव ही मृत्यु का अनुभव बनता है। जीवन का यह अनुभव जिस दिन हाथ से खिसक जाता है, जिस दिन इस घर को छोड़ कर भीतर के प्राण सिकुड़ते हैं और बाहर की दीवाल से चेतना भीतर चली जाती है, उसी दिन बाहर के लोगों को लगता है कि यह आदमी मर गया है। स्वयं उस आदमी को भी लगता है कि मरा, क्योंकि जिसे वह जीवन समझता था वहाँ से चेतना भीतर सरकने लगती है। जिस तल पर उसे ज्ञात था कि यह जीवन है उस तल से चेतना भीतर सरकने लगती है। नई यात्रा की तैयारी से उसके प्राण चिल्लाने लगते हैं कि मरा ! गया ! क्योंकि जिसे वह समझता था कि जीवन है वह डूब रहा है, वह छूट रहा है। बाहर के लोग समझते हैं कि यह आदमी मर गया और वह आदमी भी इस मरने के क्षण में, इस बदलाहट के क्षण में समझता है कि मैं मरा, मैं गया।

यह जो शरीर है, यह हमारा वास्तविक होना नहीं है। गहराई में इससे बहुत भिन्न और बिलकुल दूसरे प्रकार का हमारा व्यक्तित्व है। इस शरीर से बिलकुल विपरीत और उलटा हमारा जीवन है। एक बीज को हम देखते हैं। बीज के ऊपर की खोल होती है बहुत सख्त ताकि भीतर जो छिपा हुआ जीवन का अंकुर है कोमल, उसकी वह रक्षा कर सके। भीतर का अंकुर तो होता है बहुत कोमल और उसकी रक्षा के लिए एक बहुत कठोर दीवाल, एक घेरा, एक खोल बीज के ऊपर चढ़ी होती है। वह जो खोल है, वह बीज नहीं है और जो उस खोल को ही बीज समझ लेगा वह कभी भी उस जीवन के अंकुर से परिचित नहीं हो पायगा जो भीतर छिपा है। वह खोल को ही लिये रह जायगा और अंकुर कभी पैदा नहीं होगा। नहीं, खोल बीज नहीं है बल्कि सच तो यह है कि बीज जब पैदा होता है तो खोल को मिट जाना पड़ता है, टूट जाना पड़ता है, बिखर जाना पड़ता है, मिट्टी में गल जाना पड़ता है। जब खोल गल जाती है तो बीज भीतर से प्रकट होता है।

यह शरीर एक खोल है और जीवन-चेतना और आत्मा का अंकुर भीतर है। लेकिन हम इस खोल को ही बीज समझकर नष्ट हो जाते हैं और वह अंकुर पैदा भी नहीं हो पाता, वह अंकुर फूट भी नहीं पाता। जब वह अंकुर फूटता है तो जीवन का अनुभव होता है। जब वह अंकुर फूटता है तो मनुष्य का बीज होना समाप्त होता है और मनुष्य वृक्ष बन जाता है। जबतक मनुष्य बीज है तब तक वह सिर्फ एक संभावना है और जब उसके भीतर वृक्ष पैदा होता है जीवन का तब वह वास्तविक बनता है। उस वास्तविकता को कोई आत्मा कहता है, उस वास्तविकता को कोई परमात्मा कहता है। मनुष्य है परमात्मा का बीज। मनुष्य सिर्फ बीज है। जीवन का पूर्ण अनुभव तो वृक्ष में होगा। बीज को क्या होगा? बीज क्या जान सकता है वृक्ष के आनंद को? बीज क्या जान सकता है कि आयेंगे हरे पत्ते, जिनपर सूरज की किरणें नाचेंगी? बीज क्या जान सकता है कि हवाएँ बहेंगी पत्तियों और शाखाओं से, और प्राण संगीत में गूँजेंगे? बीज कैसे जान सकता है कि फूल खिलेंगे और आकाश के तारों को मात करेंगे? बीज कैसे जान सकता है कि पक्षी गीत गायेंगे और यात्री उसकी छाया में विश्राम करेंगे? बीज कैसे जान सकता है वृक्ष के अनुभव को? बीज को तो कुछ भी पता नहीं। वह तो सपना भी नहीं देख सकता उसका जो वृक्ष होने पर संभव होगा। वह तो वृक्ष होकर ही जाना जा सकता है।

आदमी जीवन को नहीं जानता क्योंकि उसने बीज में ही अपनी पूर्णता समझ ली है। वह तो जीवन को तभी जानेगा जब भीतर के जीवन का पूरा वृक्ष प्रकट हो। लेकिन भीतर के जीवन का वृक्ष प्रकट होना तो दूर, भीतर कुछ है शरीर से भिन्न और अलग—इसका ही हमें कोई बोध नहीं हो पाता। इसकी ही हमें कोई स्मृति, इसका ही कोई स्मरण, पैदा नहीं हो पाता कि शरीर से भिन्न और अलग भी कुछ है। जीवन की समस्या जो भीतर है उसके अनुभव की समस्या है।

एक वृक्ष से मैंने पूछा—तेरा जीवन कहाँ है? वह कहने लगा—उन जड़ों में जो दिखाई नहीं पड़तीं। जड़ें दिखाई नहीं पड़तीं, पर वहीं जीवन है। वृक्ष जो दिखाई पड़ता है, वह वहाँ से जीवन लेता है जो अदृश्य है। लेकिन हमने जीवन को समझा है बाहर का सारा का सारा फूल-पत्ते का जो फैलाव है वह, और भीतर की जड़ें बिलकुल उपेक्षित हैं, आदमी के भीतर की जड़ें बिलकुल ही उपेक्षित पड़ी हैं। स्मरण भी नहीं कि भीतर भी मैं कुछ हूँ और जो भी

है वह भीतर है। सत्य भीतर है, शक्ति भीतर है, जीवन की सारी क्षमात भीतर है। बाहर प्रकटीकरण होता है, होना भीतर है। वह जो वास्तविक है वह भीतर है। जो फैलता है और अभिव्यक्त होता है, वह बाहर है। बाहर है अभिव्यक्ति। आत्मा तो भीतर है और जो ऊपरी की अभिव्यक्ति को ही जीवन समझ लेते हैं उनका सारा जीवन मृत्यु के भय से आक्रांत होता है। वे जीते हैं तो मरे-मरे और डरे हुए कि कभी मर जायँगे, किसी क्षण मर जायँगे और यही मरने से डरे हुए लोग किसी की मौत पर रोते और परेशान होते हैं। ये अन्य किसी की मौत पर रो रहे और परेशान नहीं हो रहे हैं। हर मौत इन्हें अपनी मौत की खबर ले आती है और जो अपने हैं, बहुत निकट हैं, उनकी मौत तो और बहुत जोर से खबर लाती है। अपनी मौत की खबर से जब प्राण भीतर कँप जाते हैं तब भय पकड़ लेता है, तब कंपन पकड़ लेता है और उस कंपन, में उस भय में आदमी बड़ी-बड़ी बातें सोचता है। सोचता है कि आत्मा तो अमर है, हम तो भगवान के अंश हैं; हम तो ब्रह्म के स्वरूप हैं। ये सब बकवास की बातें हैं और यह अपने को धोखा देने से ज्यादा नहीं है। यह मौत से डरा हुआ आदमी अपने को मजबूत करने के लिए दोहराता है कि आत्मा अमर है। वह यह कह रहा है कि नहीं नहीं, मुझे मरना पड़ेगा, आत्मा तो अमर है। भीतर प्राण कँप रहे हैं और ऊपर से कह रहा है कि आत्मा अमर है। जो आदमी जानता है कि आत्मा अमर है उसे एक बार भी यह दोहराने की जरूरत नहीं है कि आत्मा अमर है क्योंकि वह जानता है, बात खत्म हो गई। लेकिन यह मौत से डरनेवाले लोग मौत से डरते हैं, जीवन को जान नहीं पाते और फिर बीच में एक नई तरकीब और एक नया धोखा पैदा करते हैं कि आत्मा अमर है। इसीलिए तो आत्मा को अमर मानने वाले लोगों से ज्यादा मौत से डरनेवाली कौम खोजना कठिन है। इस देश में ही यह दुर्भाग्य घटित हुआ है। इस देश में आत्मा की अमरता माननेवाले सर्वाधिक लोग हैं और इस देश में मौत से डरने वाले कायरों की संख्या भी सर्वाधिक है। ये दोनों बातें एक साथ कैसे हो गईं? जो जानते हैं कि आत्मा अमर है उनके लिए तो मृत्यु हो गई समाप्त, उनके लिए भय हो गया विसर्जित, उन्हें तो अब कोई मार नहीं सकता। और दूसरी बात भी ध्यान में ले लेनी है कि न उन्हें कोई मार सकता है और न अब वे इस भ्रम में हो सकते हैं कि मैं किसी को मार सकता हूँ क्योंकि मरने की घटना ही खत्म हो गई। इस

राज को थोड़ा समझ लेना जरूरी है। जो लोग कहेंगे आत्मा अमर है वे मौत से डरे हुए हैं और दोहरा रहे हैं कि आत्मा अमर है और साथ ही ऐसे मौत से डरने वाले लोग अहिंसा की भी बहुत बात करेंगे। इसलिए नहीं कि वे किसी को न मारेंगे बल्कि बहुत गहरे में इसलिए कि कोई उन्हें मारने को तैयार न हो जाय। दुनिया अहिंसक होनी चाहिए, क्यों ? कहेंगे तो यह कि किसी को भी मारना बुरा है लेकिन गहरे में वे यह कह रहे हैं कि कोई हमें मार न डाले। किसी को भी मारना बुरा है लेकिन अगर उन्हें पता चल गया है कि मृत्यु होती ही नहीं तो न मरने का डर है, न मारने का डर है और न ये बातें अर्थपूर्ण रह गई।

कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि तू भयभीत मत हो क्योंकि तू जिन्हें सामने खड़ा देख रहा है वे बहुत बार पहले भी रहे हैं। तू भी था, मैं भी था। हम सब बहुत बार थे और हम सब बहुत बार होंगे। जगत में कुछ भी नष्ट नहीं होता, इसलिए न मरने का डर है, न मारने का डर है। सवाल है जीवन को जीने का और जो मरने और मारने दोनों से डरते हैं वे जीवन की दृष्टि में एकदम नपुंसक हो जाते हैं। जो न मर सकते हैं, न मार सकते हैं वे जानते ही नहीं कि जो है वह न मारा जा सकता है, न मर सकता है। कैसी होगी वह दुनिया जिस दिन सारा जगत जानेगा भीतर से कि आत्मा अमर है ! उस दिन मृत्यु का सारा भय विलीन हो जायगा ! उस दिन मरने का भय भी विलीन हो जायगा, उस दिन मारने की धमकी भी विलीन हो जायगी। उस दिन युद्ध विलीन होंगे, उसके पहले नहीं। जबतक आदमी को लगता है कि मैं मारा जा सकता हूँ, मर सकता हूँ, तबतक दुनिया में युद्ध विलीन नहीं हो सकते। चाहे गाँधी समझायें अहिंसा, चाहे बुद्ध और चाहे महावीर। चाहे सारी दुनिया में अहिंसा, के कितने ही पाठ पढ़ाये जायँ। जबतक मनुष्य को भीतर से यह अनुभव पैदा नहीं हो जाता कि जो है वह अमृत है, तब तक दुनिया में युद्ध बन्द नहीं हो सकते। वे, जिनके हाथों में तलवारें दीखती हैं, यह न समझ लें कि वे बहुत बहादुर लोग हैं। तलवार सुबूत है कि यह आदमी भीतर से डरपोक है, कायर है। चौरस्तों पर जिनकी मूर्तियाँ बनाते हैं तलवारें हाथ में लेकर, वे कायरों की मूर्तियाँ हैं। बहादुरों के हाथ में तलवार की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि वह जानता है कि मरना और मारना दोनों बच्चों की बातें हैं। लेकिन एक अद्‌भुत प्रवंचना आदमी पैदा करता है। जिन बातों को

वह नहीं जानता उन बातों को भी वह दिखाने की कोशिश करता है कि हम जानते हैं। भीतर है भय, भीतर वह जानता है कि मरना पड़ेगा, लोग रोज मर रहे हैं। भीतर वह देखता है कि शरीर क्षीण हो रहा है, जवानी गई, बुढ़ापा आ रहा है। देखता है कि शरीर जा रहा है लेकिन दोहरा रहा है कि आत्मा अजर-अमर है। वह अपना विश्वास जुटाने की कोशिश कर रहा है, हिम्मत जुटाने की कोशिश कर रहा है कि मत घबराओ। मौत तो है, लेकिन ऋषि-मुनि कहते हैं कि आत्मा अमर है। मौत से डरने वाले लोग ऐसे ऋषि-मुनियों के पास इकट्ठे हो जाते हैं जो आत्मा की अमरता की बातें करते हैं।

मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि आत्मा अमर नहीं है। मैं यह कह रहा हूँ कि आत्मा की अमरता का सिद्धान्त मौत से डरने वाले लोगों का सिद्धांत है। आत्मा की अमरता को जानना बिलकुल दूसरी बात है और यह भी ध्यान रहे कि आत्मा की अमरता को वे ही जान सकते हैं जो जीते जी मरने का प्रयोग कर लेते हैं, उसके अतिरिक्त कोई जानने का उपाय नहीं। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है। मौत में होता क्या है ? प्राणों की सारी ऊर्जा जो बाहर फैली हुई है, विस्तीर्ण है, वह वापस सिकुड़ती है, अपने केन्द्र पर पहुँचती है। प्राणों की जो ऊर्जा सारे शरीर के कोने-कोने तक फैली हुई है, वह सारी ऊर्जा वापस सिकुड़ती है, बीच में वापस लौटती है। जैसे एक दीए को हम मन्द करते जायँ, धीमा करते जायँ तो फैला हुआ प्रकाश सिकुड़ जायगा, अंधकार घिरने लगेगा। प्रकाश सिकुड़कर दीए के पास आ जायगा। अगर हम और धीमा करते जायँ, और धीमा करते जायँ तो फिर प्रकाश बीज रूप में निहित हो जायगा, अंधकार घेर लेगा। प्राणों की जो ऊर्जा जीवन में फैली हुई है वह सिकुड़ती है, वापस लौटती है अपने केन्द्र पर। नई यात्रा के लिए फिर बीज बनती है, फिर अणु बनती है। यह जो सिकुड़ाव है इसी सिकुड़ाव से, इसी संकुचन से पता चलता है कि मैं मरा ! मैं मरा ! क्योंकि जिसे मैं जीवन समझता था वह जा रहा है, सब छूट रहा है। हाथ-पैर शिथिल होने लगे, श्वांस खोने लगी, आँखों ने देखना बन्द कर दिया, कानों ने सुनना बन्द कर दिया। ये सारी इंद्रियाँ, यह सारा शरीर किसी ऊर्जा के साथ संयुक्त होने के कारण जीवन्त था। ऊर्जा वापस लौटने लगी है। देह तो मुर्दा है, वह फिर मुर्दा रह गई। घर का मालिक घर छोड़ने की तैयारी करने लगा, घर उदास हो गया, निर्जन हो गया। मृत्यु के इस क्षण में पता चलता है कि जा

रहा हूँ, डूब रहा हूँ, समाप्त हो रहा हूँ और इस घबराहट के कारण कि मैं मर रहा हूँ, इस चिन्ता और उदासी के कारण, इस पीड़ा के कारण, इतनी ज्यादा चिन्ता पैदा होती है मन में कि उस मृत्यु के अनुभव को भी जानने से आदमी वंचित रह जाता है। जानने के लिए शांति चाहिए। इतना अशांत हो जाता है कि मृत्यु को जान नहीं पाता। बहुत बार हम मर चुके हैं, अनंत बार, लेकिन हम अभी तक मृत्यु को जान नहीं पाए क्योंकि हर बार जब मरने की घड़ी आई है तब हम इतने व्याकुल, बेचैन और परेशान हो गए हैं कि उस बेचैनी और परेशानी में कैसा जानना, कैसा ज्ञान! बार-बार मौत आकर गुजर गई है हमारे पास से लेकिन हम फिर भी अपरिचित रह गए हैं उससे। नहीं, मरने के क्षण में नहीं जाना जा सकता है मौत को, लेकिन हाँ, आयोजित मौत हो सकती है। आयोजित मौत को ही ध्यान कहते हैं, योग कहते हैं, समाधि कहते है। समाधि का एक ही अर्थ है कि जो घटना मृत्यु में अपने आप घटती है, समाधि में साधक चेष्टा और प्रयास से सारे जीवन की ऊर्जा को सिकोड़ कर भीतर ले जाता है। जानते हुए, निश्चित ही, अशान्त होने का कोई कारण नहीं है क्योंकि वह प्रयोग कर रहा है भीतर ले जाने का, चेतना को सिकोड़ने का। वह शांत मन से चेतना को भीतर सिकोड़ता है। जो मौत करती है उसे वह खुद करता है और इस शांति में वह जान पाता है कि जीवन-ऊर्जा अलग बात है, शरीर अलग बात है। वह बल्ब, जिससे बिजली प्रकट हो रही है वह अलग बात है और वह बिजली जो प्रकट हो रही है अलग बात है। बिजली सिकुड़ जाती है, बल्ब निर्जीव होकर पड़ा रह जाता है।

शरीर बल्ब से ज्यादा नहीं है। जीवन वह विद्युत है, वह ऊर्जा है, वह प्राण है, जो शरीर को जीवंत और उतप्त किए हुए है। समाधि में साधक मरता है स्वयं, और चूंकि वह स्वयं मृत्यु में प्रवेश करता है, वह जान लेता है सत्य को कि मैं हूँ अलग, शरीर है अलग। और एक बार यह पता चल जाय कि मैं हूँ अलग, तो मृत्यु समाप्त हो गई और जीवन का अनुभव भी हो गया। मृत्यु की समाप्ति और जीवन का अनुभव एक ही सीमा पर होते हैं, एक ही साथ होते हैं। जीवन को जाना कि मृत्यु गई, मृत्यु को जाना कि जीवन हुआ। अगर ठीक से समझें तो यह एक ही चीज के कहने के दो ढंग हैं। एक ही दिशा में इंगित करने वाले दो इशारे हैं।

धर्म को इसलिए मैं मृत्यु की कला (Art of Death) कहता हूँ, और कभी जीवन की कला (Art of Living) भी कहता हूँ। निश्चित ही दोनों बातें मैं कहता हूँ क्योंकि जो मरना जान लेता है वही जीवन को जान पाता है। धर्म ही जीवन और मृत्यु की कला है। अगर जानना है कि जीवन क्या है और और मृत्यु क्या है तो आपको स्वेच्छा से शरीर से उर्जा को खींचने की कला सीखनी होगी। यह ऊर्जा खींची जा सकती है। इस ऊर्जा को खींचना कठिन नहीं है। यह ऊर्जा संकल्प से ही फैलती और संकल्प से ही वापस लौट आती है, यह ऊर्जा सिर्फ संकल्प का विस्तार है। संकल्प हम करें तीव्रता से, समग्रता से कि मैं वापस लौटता हूँ भीतर। सिर्फ आधा घंटा भी कोई इस बात का संकल्प करे कि मैं वापस लौटना चाहता हूँ, मैं मरना चाहता हूँ, मैं डूबना चाहता हूँ अपने भीतर, मैं अपनी सारी ऊर्जा को सिकोड़ लेना चाहता हूँ तो थोड़े ही दिनों में वह इस अनुभव के करीब पहुँचने लगेगा कि ऊर्जा सिकुड़ने लगी है भीतर। शरीर छट जायगा बाहर पड़ा हुआ। एक तीन महीने का थोड़ा गहरा प्रयोग, और आप शरीर अलग पड़ा है इसे देख सकते हैं। अपना ही शरीर अलग पड़ा है इसे देख सकते हैं। सबसे पहले भीतर से दिखाई पड़ता है और फिर थोड़ी और हिम्मत जुटाई जाय तो वह जो जीवन्त ज्योति भीतर है उसे बाहर भी किया जा सकता है और हम बाहर से देख सकते हैं कि शरीर अलग पड़ा है।

एक अद्भुत अनुभव मुझे हुआ। कोई १२–१३ साल पहले बहुत रात तक मैं एक वृक्ष के ऊपर बैठकर ध्यान करता था। शरीर बनता है पृथ्वी से और पृथ्वी पर बैठकर ध्यान करने से शरीर की शक्ति बहुत प्रबल होती है। वह जो ऊँचाइयों पर, पहाड़ों पर और हिमालय पर जाने वाले योगियों की चर्चा है, वह अकारण नहीं है, बहुत वैज्ञानिक है। जितनी पृथ्वी से दूरी बढ़ती है शरीर की, उतना ही शरीरत्व का प्रभाव भीतर कम होता चला जाता है। एक दिन ध्यान में कब कितना लीन हो गया, मुझे पता नहीं और कब शरीर वृक्ष से गिर गया, वह मुझे पता नहीं। जब नीचे गिर पड़ा शरीर तब मैंने चौंक कर देखा कि यह क्या हो गया। मैं तो वृक्ष पर ही था और शरीर नीचे गिर गया। कैसा हुआ अनुभव कहना बहुत कठिन है। मैं तो वृक्ष पर ही बैठा था और मुझे दिखाई पड़ रहा था कि शरीर नीचे गिर गया है। एक रजत रज्जु (silver cord) नाभि से मुझ तक जुड़ी हुई थी। कुछ भी समझ के बाहर

था कि अब क्या होगा, कैसे वापस लौटूंगा। कितनी देर यह अवस्था रही होगी, यह पता नहीं, लेकिन अपूर्व अनुभव हुआ। शरीर के बाहर से पहली दफा देखा शरीर को और शरीर उसी दिन समाप्त हो गया। मौत उसी दिन खत्म हो गई क्योंकि एक और देह दिखाई पड़ी जो शरीर से भिन्न है। एक और सूक्ष्म शरीर का अनुभव हुआ। कितनी देर यह रहा, कहना मुश्किल है। सुबह होते-होते दो औरतें वहाँ से निकलीं दूध लेकर किसी गांव से और उन्होंने शरीर पड़ा हुआ देखा। वह मैं देख रहा था ऊपर से। वे करीब आकर बैठ गईं। उन्होंने सिर पर हाथ रखा और एक क्षण में जैसे तीव्र आकर्षण से मैं वापस अपने शरीर में आ गया और आँखें खुल गईं।

तब एक दूसरा अनुभव भी हुआ। वह दूसरा अनुभव यह हुआ कि स्त्री पुरुष के शरीर में विद्युत्-परिवर्तन पैदा कर सकती है और पुरुष स्त्री के शरीर में। यह भी खयाल हुआ कि उस स्त्री का छूना और मेरा वापस लौट आना, यह कैसे हो गया। फिर तो बहुत अनुभव हुए इस बात के और तब मुझे समझ में आया कि हिन्दुस्तान में जिन तांत्रिकों ने समाधि और मृत्यु पर सर्वाधिक प्रयोग किए थे उन्होंने क्यों स्त्रियों को भी अपने साथ बाँध लिया था। गहरी समाधि के प्रयोग में अगर शरीर के बाहर तेजस शरीर चला गया, सूक्ष्म शरीर चला गया, तो बिना स्त्री की सहायता के पुरुष के तेजस शरीर को वापस नहीं लौटाया जा सकता या स्त्री का तेजस शरीर अगर बाहर चला गया तो बिना पुरुष की सहायता के उसे वापस नहीं लौटाया जा सकता। स्त्री-पुरुष के शरीर के मिलते ही एक विद्युत वृत्त पूरा हो जाता है और जो चेतना बाहर निकल गई है वह तीव्रता से भीतर वापस लौट आती है।

छह महीने में मुझे अनुभव हुआ कि मेरी उम्र कम से कम दस वर्ष कम हो गई। कम हो गई मतलब, अगर मैं सत्तर साल जीता तो साठ साल ही जी सकूंगा। छाती के बाल मेरे सफेद हो गए छह महीने के भीतर। मेरी समझ के बाहर हुआ कि यह क्या हो रहा है। तब खयाल में आया कि इस शरीर और उस शरीर के बीच के संबंध में व्याघात पड़ गया है, उन दोनों का जो ताल-मेल था वह टूट गया है और तब मुझे यह भी समझ में आया कि शंकराचार्य का ३२ साल की उम्र में या विवेकानन्द का ३६ साल की उम्र में मर जाना कुछ और ही कारण रखता है। और तब मुझे यह भी खयाल में आया कि रामकृष्ण का कई बीमारियों में घिरे रहना और रमण का कैंसर से

मर जाने का भी कारण शारीरिक नहीं है, उस बीच के ताल-मेल का टूट जाना ही कारण है। लोग आमतौर से कहते हैं कि योगी बहुत स्वस्थ होते हैं लेकिन सचाई बिलकुल उलटी है। सचाई आज तक यह है कि योगी हमेशा रुग्ण रहा है और कम उम्र में मरता रहा है और उसका कुल कारण इतना है कि उन दोनों शरीर के बीच जो तालमेल चाहिए उसमें विघ्न पड़ जाता है। जैसे ही एक बार वह शरीर बाहर हुआ फिर ठीक से पूरी तरह, कभी भी पूरी अवस्था में, भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाता। फिर उसकी कोई जरूरत भी नहीं रह जाती, उसका कोई प्रयोजन भी नहीं रह जाता, उसका कोई अर्थ भी नहीं रह जाता। संकल्प से, सिर्फ संकल्प से, ऊर्जा भीतर खींची जा सकती है। सिर्फ यह धारणा, सिर्फ यह भावना कि मैं अन्दर वापस लौट जाऊँ, मैं केन्द्र पर वापस लौट जाऊँ, केन्द्र पर पहुँचा सकती है। इसकी इतनी तीव्र पुकार हो कि यह सारे कण-कण में शरीर के भीतर गूँज जाय, श्वाँस में पकड़ ले। और किसी भी दिन यह घटना घट सकती है कि एक झटके के साथ आप भीतर जाते हैं पहुँच और पहली दफा भीतर से शरीर को देखते हैं।

एक बार अनुभव हो जाय कि मैं अलग हूँ और यह शरीर अलग, तो मौत खत्म हो गई। मृत्यु नहीं है और फिर तो शरीर के बाहर आकर खड़ा होकर देखा जा सकता है। यह कोई दार्शनिक-तात्विक चिंतन नहीं है कि मृत्यु क्या है, जीवन क्या है। जो लोग इस पर विचार करते हैं वे दो कौड़ी भी फल कभी नहीं निकाल पाते। यह तो अस्तित्ववादी खोज है। जाना जा सकता है कि मैं जीवन हूँ, जाना जा सकता है कि मृत्यु मेरी नहीं है। इसे जिया जा सकता है, इसके भीतर प्रविष्ट हुआ जा सकता है। लेकिन जो लोग केवल सोचते हैं कि मृत्यु क्या है, जीवन क्या है, वे लाख विचार करें, जन्म-जन्म विचार करें, उन्हें कुछ भी पता नहीं चल सकता। विचार केवल उसके संबंध में ही किया जा सकता है जिसे हम जानते हों, जो ज्ञात हो। जो अज्ञात है उसकी बाबत कोई विचार नहीं हो सकता। आप वही सोच सकते हैं जो आप जानते हैं। आप उसे नहीं सोच सकते जिसे आप नहीं जानते। उसे सोचेंगे कैसे? उसकी कल्पना ही कैसे हो सकती है, उसकी धारणा ही कैसे हो सकती है जिसे हम जानते ही नहीं हैं? जीवन हम जानते है, मृत्यु हम जानते नहीं। सोचेंगे हम क्या? इसलिए दुनिया में मृत्यु और जीवन पर दार्शनिकों ने जो कहा है उसका दो कौड़ी भी मूल्य नहीं है। फिलासफी की किताबों में जो भी लिखा है मृत्यु

और जीवन के सम्बन्ध में उनका कोई भी मूल्य नहीं है क्योंकि वे लोग सोच-सोच कर लिख रहे हैं। सिर्फ योग ने जो कहा है जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में, उसके अतिरिक्त आज तक सिर्फ शब्दों का खेल हुआ है क्योंकि योग जो कह रहा है वह एक अस्तित्ववादी, एक जीवंत अनुभव की बात है। आत्मा अमर है, यह कोई सिद्धान्त, कोई आदर्श नहीं है। यह कुछ लोगों का अनुभव है। अनुभव की तरफ जाना हो तो अनुभव हल कर सकता है इस समस्या को कि क्या है जीवन, क्या है मौत ? और जैसे ही यह अनुभव होगा, ज्ञात होगा जीवन है, मौत नहीं है, जीवन ही है, मृत्यु है ही नहीं। फिर हम कहेंगे, लेकिन यह मृत्यु तो घट जाती है। उसका कुल मतलब इतना है कि जिस घर में हम निवास करते थे उस घर को छोड़कर दूसरे घर की यात्रा शुरू हो जाती है। जिस घर में हम रह रहे थे उस घर में हम दूसरे घर की तरफ यात्रा करते हैं। घर की सीमा है, घर की सामर्थ्य है। घर एक यंत्र है, यंत्र थक जाता है, जीर्ण हो जाता है और हमें पार हो जाना होता है। अगर विज्ञान ने व्यवस्था कर ली तो आदमी के शरीर को सौ-दो-सौ या तीन सौ वर्ष जिन्दा रखा जा सकेगा लेकिन उससे यह सिद्ध नहीं होगा कि आत्मा नहीं है, उससे सिर्फ इतना सिद्ध होगा कि आत्मा को कल तक घर बदलने पड़ते थे; अब विज्ञान ने पुराने ही घर को फिर से ठीक कर देने की व्यवस्था कर दी है। उससे यह सिद्ध नहीं होगा; इस भूल में कोई वैज्ञानिक न रहे कि हम आदमी की उम्र अगर पाँच सौ वर्ष कर लेंगे, हजार वर्ष कर लेंगे तो हमने सिद्ध कर दिया कि आदमी के भीतर कोई आत्मा नहीं है। इससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि शरीर का जो यंत्र था उसे आत्मा को इसीलिए बदलना पड़ता था कि वह जराजीर्ण हो गया था। अगर उसको रिपेयर किया जा सकता है, हृदय बदला जा सकता है, आँख बदली जा सकती है, हाथ-पैर बदले जा सकते हैं तो आत्मा को उसे बदलने की कोई जरूरत नहीं रही। पुराने घर में ही काम चल जायगा। यह भी हो सकता है कल के विज्ञान बच्चे को टेस्टट्यूब में जन्म दे सके और तब शायद वैज्ञानिक इस भ्रम में पड़ेंगे कि हमने जीवन को जन्म दे दिया, वह भी गलत है, यह भी मैं कह देना चाहता हूँ। उससे भी कुछ सिद्ध नहीं होता। माँ और बाप मिलकर क्या करते हैं ? एक पुरुष और एक स्त्री मिलकर स्त्री के पेट में आत्मा को जन्म नहीं देते, वे सिर्फ एक अवसर पैदा करते हैं जिसमें आत्मा प्रविष्ट हो सकती है। माँ का और पिता का अणु

मिलकर एक अवसर (Opportunity) पैदा करते हैं जिसमें आत्मा प्रवेश पा सकती है। कल यह हो सकता है कि टेस्टट्यूब में यह अवसर पैदा किया जा सके। इससे कोई आत्मा पैदा नहीं हो रही है। माँ का पेट भी तो एक यांत्रिक व्यवस्था है। वह प्राकृतिक है। कल विज्ञान यह कर सकता है कि प्रयोगशाला में जिन-जिन रासायनिक तत्वों से पुरुष का वीर्याणु बनता है और स्त्री का अणु बनता है उन-उन रासायनिक तत्वों की पूरी खोज और पूरी जानकारी से टेस्टट्यूब में वही रासायनिक व्यवस्था कर लें। तब जो आत्माएँ कल माँ के पेट में प्रविष्ट होती थीं वे टेस्ट-ट्यूब में प्रविष्ट हो जायँगी।

जन्म की घटना दोहरी घटना है—शरीर की तैयारी और आत्मा का आगमन, आत्मा का उतरना। आत्मा के सम्बन्ध में, आने वाले दिन बहुत खतरनाक होने वाले हैं क्योंकि विज्ञान की प्रत्येक घोषणा आदमी को यह विश्वास दिला देगी कि आत्मा नहीं है। इससे आत्मा असिद्ध नहीं होगी, इससे सिर्फ आदमी का भीतर जाने का जो संकल्प था, वह क्षीण होगा। अगर आदमी को यह समझ में आने लगे कि उम्र बढ़ गई, बच्चे टेस्टट्यूब में पैदा होने लगे, अब कहाँ है आत्मा ?—तो इससे आत्मा असिद्ध नहीं होगी, इससे सिर्फ आदमी का जो प्रयास चलता था अंतस् की खोज का, वह बन्द हो जायगा। और यह बहुत दुर्भाग्य की घटना आने वाले पचास वर्षों में घटने वाली है। इधर पचास वर्षों में उसकी भूमिका तैयार हो गई है। दुनिया में आज तक पृथ्वी पर दीन लोग रहे हैं, दरिद्र लोग रहे हैं, दुखी लोग रहे हैं, बीमार लोग रहे हैं। उनकी उम्र कम थी, उनके पास अच्छा भोजन न था, अच्छे कपड़े न थे। लेकिन आत्मा की दृष्टि से दरिद्र लोगों की संख्या जितनी आज है उतनी कभी भी नहीं थी और उसका कुल एक ही कारण है यह विश्वास कि भीतर कुछ है ही नहीं तो जाने का सवाल क्या है। एक बार मनुष्य-जाति को यह विश्वास आ गया कि भीतर कुछ है ही नहीं, तो वहाँ जाने का सवाल खतम हो जाता है। आने वाला भविष्य अत्यन्त अंधकारपूर्ण और खतरनाक हो सकता है। इसलिए हर कोने से इस सम्बन्ध में प्रयोग चलते रहने चाहिए ताकि ऐसे कुछ लोग खड़े होकर घोषणा करते रहें, सिर्फ शब्दों की और सिद्धांतों की नहीं, गीता की, कुरान और बाइबिल की पुनरुक्ति नहीं, बल्कि घोषणा कर सकें जीवन की कि मैं जानता हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ। और यह घोषणा केवल शब्दों की न हो, यह उसके सारे जीवन से प्रकट होती रहे तो शायद हम मनुष्य

को बचाने में सफल हो सकते हैं, अन्यथा विज्ञान की सारी की सारी विकसित अवस्था मनुष्य को भी एक यंत्र में परिणत कर देगी। और जिस दिन मनुष्य जाति को यह खयाल आ जायगा कि भीतर कुछ भी नहीं है उस दिन से शायद भीतर के सारे द्वार बन्द हो जायँगे और उसके बाद क्या होगा, कहना कठिन है।

आज तक भी अधिक लोगों के भीतर के द्वार बन्द रहे हैं लेकिन कभी-कभी कोई एक साहसी व्यक्ति भीतर की दीवालें तोड़कर घुस जाता है। कभी कोई एक महावीर, कभी कोई एक बुद्ध, कभी कोई एक क्राइस्ट, कभी कोई एक लाओत्से तोड़ देता है दीवाल और भीतर घुस जाता है। उसकी संभावना भी रोज-रोज कम होती जा रही है। हो सकता है, सौ-दो सौ वर्षों के बाद मनुष्य कहे कि मृत्यु है, जीवन नहीं है। इसकी तैयारी तो पूरी हो गई है। इसको कहने वाले लोग तो खड़े हो गए हैं। आखिर मार्क्स क्या कह रहा है? मार्क्स कह रहा है कि मैटर है, माइंड नहीं है। मार्क्स यह कह रहा है कि पदार्थ है, परमात्मा नहीं है और जो तुम्हें परमात्मा मालूम होता है वह भी बाई प्रोडेक्ट है पदार्थ का। वह भी पदार्थ की ही उत्पत्ति है, वह भी पदार्थ से ही पैदा हुआ है। मार्क्स यह कह रहा है कि जीवन नहीं है, मृत्यु है, क्योंकि अगर आत्मा नहीं है और पदार्थ ही है तो फिर जीवन नहीं है। मार्क्स की इस बात का प्रभाव बढ़ता चला गया, यह शायद आपको पता नहीं होगा। दुनिया में ऐसे लोग रहे हैं जिन्होंने हमेशा आत्मा को इन्कार किया है लेकिन आत्मा को इन्कार करने वालों का धर्म आज तक दुनिया में पैदा नहीं हुआ था। मार्क्स ने पहली दफा आत्मा को इन्कार करने वाले लोगों का धर्म पैदा कर दिया है। नास्तिकों का अबतक कोई संगठन नहीं था। चार्वाक् थे, बृहस्पति थे, एपीक्युरस था। दुनिया में अद्भुत लोग हुए जिन्होने यह कहा कि आत्मा नहीं, लेकिन उनका कोई चर्च, उनका कोई संगठन नहीं था। मार्क्स दुनिया में पहला नास्तिक है जिसके पास आर्गनाइज्ड चर्च है और आधी दुनिया उसके चर्च के भीतर खड़ी हो गई है और आने वाले पचास वर्षों में बाकी आधी दुनिया भी खड़ी हो जायगी। आत्मा तो है, लेकिन उसको जानने और पहचानने के सारे द्वार बन्द होते जा रहे हैं। जीवन तो है, लेकिन उस जीवन से संबंधित होने की सारी संभावनाएँ क्षीण होती जा रही हैं। इसके पहले कि सारे द्वार बन्द हो जायँ, जिनमें थोड़ी भी सामर्थ्य और साहस है उन्हें अपने ऊपर प्रयोग करने चाहिए और चेष्टा करनी चाहिए भीतर जाने की, ताकि वे अनुभव कर सकें।

और अगर दुनिया के सौ-दो सौ लोग भीतर की ज्योति को अनुभव करते हों तो कोई खतरा नहीं है। करोड़ों लोगों के भीतर का अंधकार थोड़े से लोगों की ज्योति से दूर हो सकता है और टूट सकता है। एक छोटा सा दीया न मालूम कितने अंधकार को तोड़ देता है। अगर एक गांव में एक आदमी भी हो जो जानता हो कि आत्मा अमर है तो गांव का पूरा वातावरण, उस गांव की पूरी की पूरी हवा, उस गांव की पूरी की पूरी जिन्दगी बदल जायगी।

एक छोटा-सा फूल खिलता है और दूर दूर के रास्तों पर उसकी सुगंध फैल जाती है। एक आदमी भी अगर इस बात को जानता है कि आत्मा अमर है तो उस एक आदमी का एक गांव में होना पूरे गांव की आत्मा की शुद्धि का कारण बन सकता है। लेकिन हमारे मुल्क में तो कितने साधु हैं और कितने चिल्लाने और शोरगुल मचानेवाले लोग हैं कि आत्मा अमर है और उनकी इतनी लंबी कतार, इतनी भीड़ और मुल्क का यह नैतिक चरित्र और मुल्क का यह पतन! यह साबित करता है कि यह सब धोखेबाज धंधा है। यह इतनी भीड़, इतनी कतार, यह इतना बड़ा सर्विस साधुओं का सारे मुल्क में—कोई मुँह पर पट्टी बांधे हुए एक तरह का सर्विस कर रहा है, कोई डंडा लिए हुए दूसरे तरह का सर्विस कर रहा है, कोई तीसरे तरह का सर्विस कर रहा है। यदि यह इतनी बड़ी भीड़ आत्मा को जानने वाले लोगों की है, और मुल्क का जीवन इतना नीचे गिरता चला जाय, यह असंभव है! और मैं आपको कहना चाहता हूं कि जो लोग कहते हैं कि आम आदमी ने दुनिया का चरित्र बिगाड़ा है, वे गलत कहते हैं। आम आदमी हमेशा ऐसा रहा है। दुनिया का चरित्र ऊँचा था कुछ थोड़े से लोगों के आत्म-अनुभव की वजह से। आम आदमी हमेशा था। आम आदमी में फर्क नहीं पड़ गया है। आम आदमी के बीच कुछ लोग थे जो समाज और उसकी चेतना को सदा ऊपर उठाते रहे, सदा ऊपर खींचते रहे। उनकी मौजूदगी उत्प्रेरक का काम करती रही और आदमी के जीवन को ऊपर खींचती रही। और अगर आज दुनिया में आदमी का चरित्र इतना नीचा है तो जिम्मेवार है साधु, जिम्मेवार हैं महात्मा, जिम्मेवार हैं धर्म की बातें करनेवाले झूठे लोग। आम आदमी कोई जिम्मेवार नहीं है। उसका कभी कोई उत्तरदायित्व नहीं रहा है। पहले भी नहीं था, आज भी नहीं है।

अगर दुनिया को बदलना है तो इस बकवास को छोड़ दो कि हम एक-एक आदमी का चरित्र सुधारेंगे, कि हम एक-एक आदमी को नैतिक शिक्षा का पाठ

देंगे। अगर दुनिया को बदलना चाहते हैं तो कुछ थोड़े से लोगों को अत्यन्त तीव्र आत्मिक प्रयोगों से गुजरना पड़ेगा। जो लोग बहुत भीतरी प्रयोग से गुजरने को राजी हैं उनसे ही इसकी आशा की जा सकती है। ज्यादा नहीं, सिर्फ एक मुल्क में सौ लोग आत्मा को जानने की स्थिति में पहुँच जायँ तो पूरे मुल्क का जीवन अपने आप ऊपर उठ जायगा।

मैं तो राजी हो गया था इस विषय पर बोलने के लिए ताकि कोई हिम्मत का आदमी आ जाय तो मैं उसको आमंत्रण दूँ और कहूँ कि मेरी तैयारी है उसे भीतर ले जाने की। तुम्हारी तैयारी हो तो आ जाओ। वहाँ बताया जा सकता है कि जीवन क्या है और मृत्यु क्या है।

योग्य नहीं है, उसे खो देना। वैसे कोई आदमी स्वभाव से हिंसक नहीं है, हो नहीं सकता। क्योंकि कोई भी दुःख को चाह नहीं सकता और हिंसा सिवा दुःख के कहीं भी नहीं ले जाती। हिंसा संयोगिक है, वह हमारे जीवन की धारा नहीं है। इसलिए जो हिंसक है वह भी चौवीस घंटे हिंसक नहीं हो सकता। अहिंसक चौवीस घंटे अहिंसक हो सकता है। हिंसक चौवीस घंटे हिंसक नहीं हो सकता, उसे भी किसी वर्तुल के भीतर अहिंसक ही होना पड़ता है। असल में अगर वह हिंसा भी करता है तो किन्हीं के साथ अहिंसक हो सके, इसलिए करता है। कोई आदमी चौवीस घंटे चोर नहीं हो सकता; अगर कोई चोरी भी करता है तो इसीलिए कि कुछ समय के लिए वह बिना चोरी के हो सके। चोर का लक्ष्य भी अचोरी है और हिंसक का लक्ष्य भी अहिंसा है। और इसलिए ये सारे शब्द नकारात्मक हैं।

धर्म की भाषा में दो शब्द विधायक हैं, बाकी सब शब्द नकारात्मक हैं। एक सत्य शब्द विधायक है, पोजिटिव है, और एक ब्रह्मचर्य शब्द विधायक है, पोजिटिव है।

यह भी प्राथमिक रूप से खयाल में ले लेना जरूरी है कि जो पाँच शब्द मैंने चुने हैं और जिन्हें मैं पंच महाव्रत कहता हूँ, वे नकारात्मक हैं। जब वे पाँचों छूट जायँगे तो जो भीतर उपलब्ध होगा वह होगा सत्य, और जो बाहर उपलब्ध होगा वह होगा ब्रह्मचर्य।

सत्य आत्मा बन जायगी इन पाँच के छूट जाने पर और ब्रह्मचर्य आचरण बन जायगा इन पाँच के छूटने पर। सत्य का अर्थ है जिसे हम भीतर जानेंगे। ब्रह्मचर्य का अर्थ है जिसे हम बाहर जियेंगे। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म जैसी चर्या, ईश्वर-जैसा आचरण। ईश्वर-जैसा आचरण उसी का हो सकता है जो ईश्वर जैसा हो जाय। सत्य का अर्थ है—ईश्वर जैसा हो जाना। सत्य का अर्थ है ब्रह्म। जो ईश्वर-जैसा हो गया उसकी जो चर्या होगी वह ब्रह्मचर्या होगी और ब्रह्म-जैसा आचरण होगा। ये दो शब्द धर्म की भाषा में विधायक हैं, पोजिटिव हैं। बाकी पूरे धर्म की भाषा नकारात्मक है।

अगर ठीक से समझें तो अहिंसा पर कोई विचार नहीं हो सकता; सिर्फ हिंसा पर विचार हो सकता है, और हिंसा के न होने पर विचार हो सकता है। ध्यान रहे अहिंसा का मतलब सिर्फ इतना ही है—हिंसा का न होना, हिंसा की अनुपस्थिति, हिंसा का अभाव।

इसे इस तरह समझें। किसी चिकित्सक को पूछें कि स्वास्थ्य की परिभाषा क्या है? दुनिया में स्वास्थ्य के बहुत से विज्ञान विकसित हुए हैं लेकिन कोई भी स्वास्थ्य की परिभाषा नहीं करता। अगर आप पूछें कि स्वास्थ्य की परिभाषा क्या है, तो चिकित्सक कहेगा जहाँ बीमारी न हो। लेकिन यह बीमारी की बात हुई, यह स्वास्थ्य की बात न हुई। यह बीमारी का न होना हुआ। बीमारी की परिभाषा हो सकती है, लेकिन स्वास्थ्य की कोई परिभाषा नहीं हो सकती। स्वास्थ्य क्या है? ज्यादा से ज्यादा इतना ही हम कह सकते हैं कि जब कोई बीमारी नहीं है तो वह स्वास्थ्य है।

धर्म परम स्वास्थ्य है, इसलिए धर्म की कोई परिभाषा नहीं हो सकती। सब परिभाषा अधर्म की है।

विचार से, बोध से अधर्म छूट जाय तो जो निर्विचार में शेष रह जाता है, उसी का नाम धर्म है। इसलिए जहाँ धर्म पर चर्चा होती है, वहाँ व्यर्थ चर्चा होती है। चर्चा सिर्फ अधर्म की हो सकती है। चर्चा धर्म की हो नहीं सकती। चर्चा बीमार की हो सकती है, चर्चा स्वास्थ्य की नहीं हो सकती। स्वास्थ्य को जाना जा सकता है, स्वास्थ्य को जिया जा सकता है, स्वस्थ हुआ जा सकता है—चर्चा नहीं हो सकती। धर्म को जाना जा सकता है, जिया जा सकता है, धर्म में हुआ जा सकता है। धर्म की चर्चा नहीं हो सकती। इसलिए सब धर्मशास्त्र वस्तुतः अधर्म की चर्चा करते हैं, धर्म की कोई चर्चा नहीं करता।

पहली चर्चा हम अधर्म की करें जो है हिंसा। और जो-जो हिंसक हैं उनके लिए यह पहला व्रत है। यह समझने-जैसा मामला है कि हम जो विचार करेंगे वह यह मानकर विचार करेंगे कि हम हिंसक हैं। इसके अतिरिक्त उस चर्चा का कोई अर्थ नहीं। ऐसे भी हम हिंसक है। हमारे हिंसक होने में भेद हो सकते हैं और हिंसा की इतनी पर्तें हैं, और इतनी सूक्ष्मताएँ हैं कि कई बार ऐसा भी हो सकता है कि जिसे हम अहिंसा कह रहे है और समझ रहे हैं वह भी हिंसा का बहुत सूक्ष्म रूप हो। और ऐसा भी हो सकता है कि जिसे हम हिंसा कह रहे है वह भी अहिंसा का बहुत स्थूल रूप हो।

जिन्दगी बहुत जटिल है। उदाहरण के लिए गाँधी जी की अहिंसा को मैं हिंसा का सूक्ष्म रूप कहता हूँ और कृष्ण की हिंसा को अहिंसा का स्थूल रूप कहता हूँ। हिंसक को ही विचार करना जरूरी है अहिंसा पर। इसलिए यह

भी प्रासंगिक है समझ लेना कि दुनिया में अहिंसा का विचार हिंसकों की जमात से आया।

जैनों के चौबीस तीर्थंकर क्षत्रिय थे। वह जमात हिंसकों की थी। उनमें एक भी ब्राह्मण नहीं था, उनमें एक भी वैश्य नहीं था। बुद्ध भी क्षत्रिय थे। दुनिया में अहिंसा का विचार ही हिंसकों की जमात से आया है। दुनिया में अहिंसा का खयाल, जहाँ हिंसा घनी थी, सघन थी वहाँ पैदा हुआ है। असल में हिंसकों को ही सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा है अहिंसा के संबंध में। जो चौबीस घंटे हिंसा में रत हैं उन्हीं को यह दिखाई पड़ा है कि यह हमारी अंतरात्मा नहीं है। असल में हाथ में तलवार हो, क्षत्रिय का मन हो तो बहुत देर न लगेगी यह देखने में कि हिंसा हमारी पीड़ा है, दुःख है। वह हमारा जीवन नहीं है। वह हमारा आनन्द नहीं है।

मैं तो मानकर चलूंगा कि हम लोग हिंसक हैं। और जब मैं हिंसा के बहुत रूपों की आपसे बात करूँगा तो आप समझ पायँगे कि आप किस रूप के हिंसक हैं। और अहिंसक होने की पहली शर्त है, अपनी हिंसा को उसकी ठीक-ठीक जगह पर पहचान लेना। क्योंकि जो व्यक्ति हिंसा को ठीक से पहचान ले वह व्यक्ति हिंसक नहीं रह सकता। हिंसक रहने की तरकीब, टेकनिक एक ही है कि हम अपनी हिंसा को अहिंसा समझ जाएँ। इसलिए असत्य, सत्य के वस्त्र पहन लेता है। हिंसा, अहिंसा के वस्त्र पहन लेती है। यों धोखा पैदा होता है।

मैंने एक सीरियन कथा सुनी है।

सौंदर्य और कुरूपता की देवियों को जब परमात्मा ने बनाया और वे पृथ्वी पर उतरीं तो एक झील के किनारे वस्त्र रख कर वे स्नान करने गईं। स्वभावतः सौंदर्य की देवी को पता भी न था कि उसके वस्त्र बदले जा सकते हैं। असल में सौंदर्य को अपने वस्त्रों का पता ही नहीं होता। सौंदर्य को अपनी देह का भी पता नहीं होता। सिर्फ कुरूपता को देह का बोध होता है। सिर्फ कुरूपता को वस्त्रों की चिंता होती है; क्योंकि कुरूपता वस्त्रों और देह की व्यवस्था से अपने को छिपाने का उपाय करती है। सौंदर्य की देवी झील में दूर स्नान करते निकल गई और तभी कुरूपता की देवी को मौका मिला; वह बाहर आई, उसने सौंदर्य की देवी के कपड़े पहने और चलती बनी। जब सौंदर्य की देवी बाहर आई तो बहुत हैरान हुई। उसके वस्त्र वहाँ नहीं थे। वह नग्न खड़ी

थी। गाँव के लोग जागने शुरू हो गए और राहों पर चलने लगे। उधर कुरूपता की देवी उसके वस्त्र लेकर भाग गई थी। तो मजबूरी में उसे कुरूपता के वस्त्र पहन लेने पड़े। और कथा कहती है कि तब से वह कुरूपता की देवी का पीछा कर रही है और खोज रही है, लेकिन अबतक मिलना नहीं हो पाया। कुरूपता अब भी सौंदर्य के वस्त्र पहने हुए है और सौंदर्य की देवी अभी भी मजबूरी में कुरूपता के वस्त्रों को ओढ़े हुए है।

असल में असत्य को जब भी खड़ा होना हो तो उसे सत्य का चेहरा उधार लेना पड़ता है। उसे सत्य का ढंग अंगीकार करना पड़ता है। हिंसा को भी खड़े होने के लिए अहिंसा बनना पड़ता है। इसलिए अहिंसा की दिशा में जो पहली बात जरूरी है, वह यह है कि हिंसा के चेहरे पहचान लेने जरूरी हैं। खासकर उसके अहिंसक चेहरे को पहचान लेना बहुत जरूरी है। हिंसा सीधा धोखा किसी को भी दे नहीं सकती। दुनिया में कोई भी पाप सीधा धोखा देने में असमर्थ है। पाप को भी पुण्य की आड़ में ही धोखा देना पड़ता है। यह पुण्य के गुण-गौरव की कथा है। इससे पता चलता है कि पाप भी अगर जीतता है तो पुण्य का चेहरा लगाकर ही जीतता है। जीतता सदा पुण्य ही है। चाहे पाप आपके ऊपर चेहरा बन कर जीतता हो और चाहे खुद की अंतरात्मा बन कर जीतता हो। पाप खुद कभी जीतता नहीं। पाप अपने में हारा हुआ है। हिंसा जीत नहीं सकती; लेकिन दुनिया से हिंसा मिटती नहीं; क्योंकि हमने हिंसा के बहुत अहिंसक चेहरे खोज निकाले हैं। तो पहले हम हिंसा के चेहरे को समझने की कोशिश करें।

हिंसा का सबसे पहला रूप सबसे पहला आयाम बहुत गहरा है, वहीं से पकड़ें। सबसे पहली हिंसा दूसरे को दूसरा मानने से शुरू होती है। जैसे ही मैं कहता कि हूँ आप दूसरे हैं, मैं आपके प्रति हिंसक हो गया। असल में दूसरे के प्रति अहिंसक होना असंभव है। हम सिर्फ अपने प्रति ही अहिंसक हो सकते हैं, ऐसा स्वभाव है। हम दूसरे के प्रति अहिंसक हो ही नहीं सकते। होने की बात ही नहीं उठती, क्योंकि दूसरे को दूसरा स्वीकार लेने में ही हिंसा शुरू हो गई। बहुत सूक्ष्म है, बहुत गहरी है यह बात।

सार्त्र का वचन है—'दी अदर इज हेल' : वह जो दूसरा है वह नरक है। सार्त्र के इस वचन से मैं थोड़ी दूर तक राजी हूँ। उसकी समझ गहरी है। वह ठीक कह रहा है—दूसरा नरक है। लेकिन उसकी समझ अधूरी भी है। दूसरा

नरक नहीं है, दूसरे को दूसरा समझने में नरक है। इसलिए जो भी स्वर्ग के थोड़े से क्षण हमें मिलते हैं वह तब मिलते हैं जब हम दूसरे को अपना समझते हैं। उसे हम प्रेम कहते हैं।

अगर मैं किसी को किसी क्षण में अपना समझता हूँ, तो उसी क्षण मेरे और उसके बीच जो धारा बहती है वह अहिंसा की है। किसी क्षण में दूसरे को अपना समझने का क्षण ही प्रेम का क्षण है। लेकिन जिसको हम अपना समझते हैं वह भी गहरे में दूसरा ही बना रहता है। किसी को अपना कहना भी सिर्फ इस बात की स्वीकृति है कि तुम हो तो दूसरे, लेकिन हम तुम्हें अपना मानते हैं। इसलिए जिसे हम प्रेम कहते हैं उसकी भी गहराई में हिंसा मौजूद रहती है। और इसलिए प्रेम की वह जो ज्योति है, कभी कम, कभी ज्यादा होती रहती है। कभी वह दूसरा हो जाता है, कभी अपना हो जाता है। चौबीस घंटे में यह कई बार बदलाहट होती है। जब वह जरा दूर निकल जाता है और दूसरा दिखाई पड़ने लगता है, तब हिंसा बीच में आ जाती है। जब वह जरा करीब आ जाता है और अपना दिखाई पड़ने लगता है तब हिंसा थोड़ी कम हो जाती है। लेकिन जिसे हम अपना कहते हैं वह भी दूसरा है। पत्नी भी दूसरी है चाहे कितनी भी अपनी हो। बेटा भी दूसरा है चाहे कितना ही अपना हो। पति भी दूसरा है चाहे कितना ही अपना हो। अपना कहने में भी दूसरे का भाव सदा मौजूद है। इसलिए प्रेम भी पूरी तरह अहिंसक नहीं हो पाता। प्रेम की हिंसा के भी अपने ढंग है।

प्रेम अपने ढंग से हिंसा करता है। प्रेमपूर्ण ढंग से हिंसा करता है। पत्नी, पति को प्रेमपूर्ण ढंग से सताती है। पति, पत्नी को प्रेमपूर्ण ढंग से सताता है। बाप बेटे को प्रेमपूर्ण ढंग से सताता है। और जब सताना प्रेम हो तो बड़ा सुरक्षित हो जाता है। फिर सताने में बड़ी सुविधा मिल जाती है, क्योंकि हिंसा ने अहिंसा का चेहरा ओढ़ लिया है। शिक्षक विद्यार्थी को सताता है और कहता है तुम्हारे हित के लिए ही सता रहा हूँ। जब हम किसी के हित के लिए सताते हैं तब सताना बड़ा आसान है—वह गौरवान्वित, पुण्यकारी हो जाता है। इसलिए ध्यान रखना, दूसरे को सताने में हमारे चेहरे सदा साफ होते हैं। अपनों को सताने में हमारे चेहरे कभी भी साफ नहीं होते। इसलिए दुनिया में जो बड़ी से बड़ी हिंसा चलती है वह दूसरे के साथ नहीं, वह अपनों के साथ चलती है।

सच तो यह है कि किसी को भी शत्रु बनाने के पहले मित्र बनाना अनिवार्य शर्त है। किसी को मित्र बनाने के लिए शत्रु बनाना अनिवार्य शर्त नहीं है। शर्त ही नहीं है। असल में शत्रु बनाने के लिए पहले मित्र बनाना जरूरी है। मित्र बनाए बिना शत्रु नहीं बनाया जा सकता। हाँ, मित्र बनाया जा सकता है, बिना शत्रु बनाए। उसके लिए कोई शर्त नहीं है शत्रुता की। मित्रता सदा शत्रुता के पहले है।

अपनों के साथ जो हिंसा है वह अहिंसा का गहरे से गहरा चेहरा है। इसलिए जिस व्यक्ति को हिंसा के प्रति जागना हो उसे पहले अपनों के प्रति जो हिंसा है उसके प्रति जागना होगा। लेकिन मैंने कहा, किसी-किसी क्षण में दूसरा अपना मालूम पड़ता है। बहुत निकट हो गए होते हैं हम। यह निकट होना, दूर होना बहुत सरल है। पूरे वक्त बदलता रहता है।

इसलिए हम चौबीस घंटे प्रेम में नहीं होते। किसी के साथ प्रेम के सिर्फ क्षण होते हैं। प्रेम के घंटे नहीं होते। प्रेम के दिन नहीं होते। प्रेम के वर्ष नहीं होते, लेकिन जब हम क्षणों से स्थायित्व का धोखा देते हैं तो हिंसा शुरू हो जाती है। अगर मैं किसी को प्रेम करता हूँ तो यह क्षण की बात है। अगले क्षण भी करूँगा, जरूरी नहीं। कर सकूँगा, जरूरी नहीं। लेकिन अगर मैंने वायदा किया कि अगले क्षण भी प्रेम जारी रखूँगा तो अगले क्षण जब हम दूर हट गए होंगे और हिंसा बीच में आ गई होगी तब हिंसा प्रेम की शक्ल लेगी।

इसलिए दुनिया में जितनी अपनी बनानेवाली संस्थाएँ हैं, सब हिंसक हैं। परिवार से ज्यादा हिंसा और किसी संस्था ने नहीं की, लेकिन उसकी हिंसा बड़ी सूक्ष्म है। इसलिए अगर संन्यासी को परिवार छोड़ देना पड़ता था, तो उसका कारण था सूक्ष्मतम हिंसा से बाहर हो जाना, और कोई कारण नहीं था। सिर्फ एक ही कारण था कि हिंसा का एक सूक्ष्मतम जाल है जो अपने कहनेवाले कर रहे हैं। उनसे लड़ना भी मुश्किल है, क्योंकि वे हमारे हित में ही कर रहे हैं। परिवार का ही फैला हुआ बड़ा रूप समाज है, इसलिए समाज ने जितनी हिंसा की है उसका हिसाब लगाना कठिन है।

सच तो यह है कि समाज ने करीब-करीब व्यक्ति को मार डाला है, इसलिए ध्यान रहे जब आप समाज के सदस्य की हैसियत से किसी से व्यवहार करते हैं तब आप हिंसक होते हैं। अगर आप जैन की तरह किसी व्यक्ति से व्यवहार करते हैं तो आप हिंसक हैं। हिन्दू की तरह व्यवहार करते हैं तो आप

हिंसक हैं। मुसलमान की तरह व्यवहार करते हैं तो आप हिंसक हैं। क्योंकि अब आप व्यक्ति की तरह व्यवहार नहीं कर रहे हैं, आप समाज की तरह व्यवहार कर रहे हैं। और अभी व्यक्ति ही अहिंसक नहीं हो पाया, तो समाज के अहिंसक होने की संभावना तो बहुत दूर है। समाज तो अहिंसक हो ही नहीं सकता। इसलिए दुनिया में जो बड़ी हिंसा है वह व्यक्तियों ने नहीं की, वह समाजों ने की है।

अगर एक मुसलमान को हम कहें कि इस मंदिर में आग लगा दो, तो अकेला मुसलमान व्यक्ति की हैसियत से पच्चीस बार सोचेगा। क्योंकि हिंसा बहुत साफ दिखाई पड़ रही है। लेकिन दस हजार मुसलमान की भीड़ में उसे खड़ा कर दें तब वह एक बार भी नहीं सोचेगा, क्योंकि दस हजार की भीड़ एक समाज है। अब हिंसा साफ न रह गई, बल्कि अब यह हो सकता है कि वह धर्म के ही हित में मंदिर में आग लगा दे। ठीक यही मस्जिद के साथ हिन्दू कर सकता है। ठीक यही दुनिया के सारे समाज एक दूसरे के साथ कर रहे हैं।

समाज का मतलब है अपनों की भीड़। और दुनिया में तबतक हिंसा मिटानी मुश्किल है जबतक हम अपनों की भीड़ बनाने की जिद बंद नहीं करते। अपनों की भीड़ का मतलब है कि वह भीड़ सदा परायों के खिलाफ खड़ी होगी। इसलिए दुनिया के सब संगठन हिंसात्मक होते हैं। दुनिया का कोई संगठन अहिंसात्मक नहीं हो सकता। संभावना नहीं है अभी, शायद करोड़ों वर्ष लग जायें जब पूरा मनुष्य रूपांतरित हो जाय तो शायद कभी अहिंसात्मक लोगों का भी कोई मिलन हो सके।

अभी तो सब मिलन हिंसात्मक लोगों के हैं, परिवार ही क्यों न हो। परिवार दूसरे लोगों के खिलाफ खड़ी की गई इकाई है। परिवार बायो-लॉजिकल यूनिट है, जैविक इकाई है, दूसरी जैविक इकाइयों के खिलाफ। समाज, दूसरे समाजों के खिलाफ सामाजिक इकाई है। राज्य, दूसरे राज्यों के खिलाफ राजनैतिक इकाई है। ये सारी इकाइयाँ हिंसा की हैं। मनुष्य उस दिन अहिंसक होगा जिस दिन वह निपट व्यक्ति होने को राजी है। इसलिए महावीर को जैन नहीं कहा जा सकता और जो कहते हों वह महावीर के साथ अन्याय करते हैं। महावीर किसी समाज के हिस्से नहीं हो सकते। कृष्ण को हिन्दू नहीं कहा जा सकता और जीसस को ईसाई कहना निपट पागलपन है।

ये व्यक्ति हैं, इनकी इकाई ये खुद हैं। ये किसी दूसरी इकाई के साथ जुड़ने को राजी नहीं हैं।

संन्यास समस्त इकाइयों के साथ जुड़ने से इनकार है। असल में संन्यास इस बात की खबर है कि समाज हिंसा है और समाज के साथ खड़े होने में हिंसक होना ही पड़ेगा। अपनों का चेहरा भी हिंसा का सूक्ष्मतम रूप है। इसलिए जिसे प्रेम कहते हैं, वह भी अहिंसा नहीं बन पाता।

अपना जिसे कहते हैं वह भी 'मैं' नहीं हूँ। वह भी दूसरा है। अहिंसा उस क्षण शुरु होगी जिस दिन दूसरा नहीं है। यह नहीं कि वह अपना है, वह है ही नहीं। लेकिन यह क्या बात है कि दूसरा, दूसरा दिखाई पड़ता है। होगा ही दूसरा, तभी दिखाई पड़ता है। नहीं, लेकिन जैसा दिखाई पड़ता है वैसा हो ही, यह जरूरी नहीं है। अँधेरे में रस्सी भी सांप दिखाई पड़ती है। रोशनी होने से पता चलता है कि ऐसा नहीं है। खाली आँखों से देखने पर पत्थर ठोस दिखाई पड़ता है। विज्ञान की गहरी आँखों से देखने पर ठोसपन विदा हो जाता है। पत्थर सब्स्टेंशिअल नहीं रह जाता। असल में पत्थर-पत्थर ही नहीं रह जाता। पत्थर मेटीरियल ही नहीं रह जाता। पत्थर पदार्थ ही नहीं रह जाता, सिर्फ एनर्जी रह जाता है। जैसा दिखाई पड़ता है, वैसा ही नहीं है। जैसा दिखाई पड़ता है वह हमारे देखने की क्षमता की सिर्फ सूचना है। सिर्फ दूसरा है इसलिए दिखाई पड़ता है। नहीं, दूसरे को दिखाई पड़ने का कारण दूसरे का होना नहीं है। दूसरे का दिखाई पड़ने का कारण बहुत अद्भुत है, इसे समझ लेना जरूरी है। इसे बिना समझे हम हिंसा की गहराई को न समझ सकेंगे।

दूसरा इसलिए दिखाई पड़ता है कि मैं अभी नहीं हूँ। मैं नहीं हूँ, मुझे अपना कोई पता नहीं है। इस मेरे न होने को, इस मेरे का पता न होने को, इस मेरे आत्म-अज्ञान को मैंने दूसरे का ज्ञान बना लिया। हम दूसरे को देख रहे हैं क्योंकि हम अपने को देखना नहीं जानते और देखना तो पड़ेगा ही। देखने की दो संभावनाएँ हैं: या तो वह दूसरे की तरफ देखने का तीर हो या अंतर की ओर तीर हो—इनर ऐरोड या अदर ऐरोड हो।

दूसरे को देखें या अपने को देखें, यह देखने के दो विकल्प हैं। यह देखने के दो डायमेनशन हैं: चूंकि हम अपने को देख ही नहीं सकते, देख ही नहीं पाते, देखा ही नहीं, हम दूसरे को ही देखते रहते हैं।

दूसरे का होना आत्म-अज्ञान से पैदा होता है। असल में वह ध्यान का डायमेन्शन है। एक युवक हॉकी के मैदान में खेल रहा है, पैर में चोट लग गई, खून बह रहा है। हजारों दर्शकों को दिखाई पड़ रहा है कि पैर से खून बह रहा है; सिर्फ उसे पता नहीं। क्या हो गया उसको? होश में पूरा नहीं है? होश में है, क्योंकि गेंद की जरा-सी गति भी उसे दिखाई पड़ रही है। गति में बेहोश है? बेहोश बिलकुल नहीं है, क्योंकि दूसरे खिलाड़ियों का जरा-सा मूवमेन्ट, जरा-सी हलचल उसकी आँख में है। बेहोश वह नहीं है, क्योंकि खुद को पूरी तरह संतुलित करके वह दौड़ रहा है। लेकिन पैर से खून गिर रहा है, यह दिखाई क्यों नहीं पड़ रहा है? यह उसे पता क्यों नहीं चल रहा है? उसकी सारी अटेन्शन 'अदर डायरेक्टेड' है। उसकी चेतना इस समय 'वन डायमेन्शनल' है। वह बाहर की दिशा में लगी है। वह खेल में व्यस्त है। वह इतने जोर से व्यस्त है कि चेतना का टुकड़ा भी नहीं बचा है जो भीतर की तरफ जा सके। सब चेतना बाहर बह रही है। खेल बन्द हो गया है। अब वह पैर पकड़ कर बैठ गया और रो रहा है और कह रहा है, बहुत चोट लग गई! मुझे पता क्यों नहीं चला? आधा घंटा वह कहाँ था? आधा घंटा भी वह था, लेकिन दूसरे पर केन्द्रित था। अब लौट आया अपने पर। अब उसे पता चल रहा है कि पैर में चोट लग गई, दर्द है, पीड़ा है। अब उसका ध्यान अपने शरीर की तरफ गया है। अभी भी उसे उसका पता नहीं चल रहा है जिसे पता चल रहा है कि दर्द हो रहा है। अभी और भीतर की यात्रा संभव है। अभी वह बीच में खड़ा है। दूसरा बाहर है, मैं भीतर हूँ, और दोनों के बीच में मेरा शरीर है। हमारी यात्रा, या तो दूसरा या अपना शरीर—इनके बीच होती रहती है। हमारी चेतना इनके बीच डोलती रहती है। या तो हम दूसरे को जानते हैं या अपने शरीर को जानते हैं, वह भी दूसरा है।

असल में अपने शरीर का मतलब केवल इतना है कि हमारे और दूसरे के बीच संबंधों के जो तीर हैं, तट हैं, जहाँ हमारी चेतना की नदी बहती रहती है, मेरा शरीर और आपका शरीर इनके बीच बहती रहती है। आपसे भी मेरा मतलब आपसे नहीं है, क्योंकि जब मेरा मतलब मेरे शरीर से होता है, तो आपसे मतलब सिर्फ आपके शरीर से होता है। न आपकी चेतना से मुझे कोई प्रयोजन है, न मुझे आपकी चेतना का कोई पता है। जिसे अपनी चेतना का पता नहीं उसे दूसरे की चेतना का पता हो भी कैसे सकता है? अगर ठीक से

कहें तो हिंसा दो शरीरों के बीच का संबंध है। दो शरीरों के बीच अहिंसा का कोई संबंध नहीं हो सकता। शरीरों के बीच संबंध सदा हिंसा का होगा। अच्छी हिंसा का हो सकता है, बुरी हिंसा का हो सकता है, खतरनाक हिंसा का हो सकता है, गैर खतरनाक हिंसा का हो सकता है। लेकिन तय करना मुश्किल है कि खतरा कब गैर खतरा हो जाता है, गैर खतरा कब खतरा बन जाता है।

एक आदमी प्रेम से किसी को छाती से दबा रहा है। बिलकुल गैर खतरनाक हिंसा है। असल में दूसरे के शरीर को दबाने का सुख ले रहा है लेकिन और थोड़ा बढ़ जाय और जोर से दबावे तो घबराहट शुरू हो जायगी। छोड़े ही नहीं और जोर से दबावे और श्वास घुटने लगे, तो जो प्रेम था वह तत्काल घृणा बन जायगा, हिंसा बन जायगा।

ऐसे प्रेमी हैं जिनको हम परपीड़क कहते हैं। वे जब तक दूसरों को सता न लें तब तक उनका प्रेम पूरा नहीं होता। वैसे हम सब प्रेम में एक दूसरे को थोड़ा सताते हैं। जिसको हम चुंबन कहते हैं वह सताने का एक ढंग है, लेकिन धीमा। हिंसा उसमें पूरी है। लेकिन थोड़ा और बढ़ जाय, काटना शुरु हो जाय, तो हिंसा थोड़ी बढ़ी। कुछ प्रेमी काटते भी हैं, लेकिन तबतक भी चलेगा। जिन्होंने प्रेम-शास्त्र लिखा है उन्होंने नख-दंश को भी प्रेम की एक व्यवस्था दी है। नाखून से प्रेमी को दंश पहुँचाना वह भी प्रेम है। हिन्दुस्तान में जो कामशास्त्र के ज्ञाता हैं वे कहते हैं कि जबतक प्रेमी को नाखून से खुरचें नहीं, तबतक उसके भीतर प्रेम ही पैदा नहीं होता। लेकिन नाखून से खुरचना है, तो फिर एक औजार लेकर खुरचने में हर्ज क्या है? लेकिन जब नाखून से खुरचना रोज की आदत बन जायगी तब फिर रस खो जायगा। फिर एक हथियार रखना पड़ेगा। जिस आदमी के नाम पर सैडीज्म शब्द बना है, वह आदमी अपने साथ एक कोड़ा भी रखता था, एक कांटा भी रखता था पांच अंगुलियों वाला। पत्थर भी रखता था। और भी प्रेम के कई साधन अपने बैग में रखता था। वह जब किसी को प्रेम करता तो दरवाजे बन्द करके उसे कोड़े लगाता। जब उसकी प्रेयसी का सारा शरीर कोड़ों से लहू-लुहान हो जाता तब वह कांटे चुभाता। यह सब प्रेम था।

कई प्रेमियों ने अपनी प्रेयसियों की गर्दनें दबा डाली हैं। प्रेम के क्षणों में मार ही डाला है। उन पर मुकदमे चले हैं। अदालतें नहीं समझ पाईं कि यह कैसा प्रेम है? लेकिन अदालतों को समझना चाहिए, यह थोड़ा आगे बढ़ गया

"क्या तुम दाँतों की वजह से बकरे कटवाते थे ?" तो उसने कहा—"जब दाँत गिरे तब मुझे पता चला कि अब मुझे कोई रस न रहा। ऐसे माँस खाने में कठिनाई पड़ती है, काली की आड़ लेकर खाना आसान हो जाता है।"

अब धर्म की पुरानी वेदियाँ गिर गईं। अब का धर्म विज्ञान है। इसलिए विज्ञान की वेदी पर अब हिंसा चलती है, बहुत तरह की हिंसा चलती है। विज्ञान हजार तरह के टार्चर के उपाय कर लेता है। इसी तरह हमने धर्म की वेदी पर इन्कार नहीं किया था, क्योंकि उस समय धर्म की वेदी स्वीकृत थी। अब विज्ञान की वेदी स्वीकृत है।

अगर एक वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में जायँ, तो बहुत हैरान हो जायँगे। कितने चूहे मारे जा रहे हैं, कितने मेंढ़क काटे जा रहे हैं, कितने जानवर उलटे-सीधे लटकाए गए हैं, कितने जानवर बेहोश कर डाले गए हैं, कितने जानवरों की चीर-फाड़ की जा रही हैं। यह सब चल रहा है। लेकिन वैज्ञानिक को बिलकुल पक्का खयाल है कि वह हिंसा नहीं कर रहा है। उसका खयाल है कि वह आदमी की भलाई के लिए नई खोज कर रहा है। बस हिंसा ने अहिंसा का चेहरा ओढ़ लिया। जब आप किसी को प्रेम करते हैं तो खयाल करना कि आपके भीतर की हिंसा तो प्रेम की शक्ल नहीं बन जाती ? अगर बन जाती है तो वह खतरनाक से खतरनाक शक्ल है, क्योंकि उसका स्मरण आना बहुत मुश्किल है। हम समझते रहेंगे कि हम प्रेम ही कर रहे हैं। दूसरा, तबतक दूसरा है, जब तक मुझे पता नहीं है। इसे मैं हिंसा की बुनियाद कहता हूँ।

हिंसा का अर्थ है दूसरे से उत्पन्न हो रही चेतना। स्वयं से उत्पन्न हो रही चेतना अहिंसा बन जाती है, दूसरे से उत्पन्न हो रही चेतना हिंसा बन जाती है। लेकिन हमें दूसरे का ही पता है। हम जब भी देखते हैं दूसरे को देखते हैं। और अगर हम कभी अपने सम्बन्ध को भी सोचते हैं, तो हमेशा पायेंगे कि दूसरे हमारी बाबत क्या सोचते हैं ? उसी तरह हम भी सोचते हैं। अगर मेरी अपनी भी कोई शक्ल है, तो वह आपके द्वारा दी गई शक्ल है। इसलिए मैं सदा डरा रहूँगा, कहीं आपके मन में मेरे प्रति बुरा खयाल न आ जाय, अन्यथा मेरी शक्ल बिगड़ जायगी। क्योंकि मेरी अपनी तो कोई शक्ल है नहीं। अखबारों की कटिंग फाड़ कर मैंने अपना चेहरा बनाया है, आपकी बातें सुनकर आपकी राय इकट्ठी करके मैंने अपनी प्रतिमा बनाई है। अगर उसमें से एक पीछे खिसक जाता है, कोई भक्त गाली देने लगता है, कोई अनुयायी दुश्मन हो

जाता है, कोई मित्र साथ नहीं देता, तो हमारी प्रतिमा गिरने लगती है।

(स्वप्न में भी हम दूसरों को देखते हैं। जागते में भी दूसरों को देखते हैं। ध्यान के लिए बैठे, तो भी दूसरों का ध्यान करते हैं। अगर ध्यान को भी बैठेंगे, तो महावीर का ध्यान करेंगे, बुद्ध का ध्यान करेंगे, कृष्ण का ध्यान करेंगे। जिस ध्यान में दूसरा मौजूद है, वह हिंसात्मक ध्यान है। जिस ध्यान में दूसरा सिर्फ आप ही रह गए, वह शायद आपको अहिंसा में ले जायगा।

महावीर जब चींटी से बच कर चल रहे हैं, तो आप इस भ्रांति में मत रहें कि आप भी चींटी से बच कर चलते हैं। आप जब चींटी से बच कर चलते हैं तो चींटी से बच कर चल रहे हैं। महावीर जब चींटी से बच कर चलते हैं तो अपने पर ही पैर न पड़ जाय इसलिए बच कर चलते हैं। इन दोनों में बुनियादी फर्क है। महावीर का बचना अहिंसा है। आपका बचना हिंसा है। चींटी न मर जाय, इसकी चिंता आपको क्यों है? इसकी चिंता आपको सिर्फ इसलिए है कि कहीं चींटी के मरने से पाप न लग जाय। कहीं चींटी के मरने से नरक न जाना पड़े, कहीं चींटी के मरने से पुण्य न छिन जाय, कहीं चींटी के मरने से स्वर्ग न खो जाय। चींटी से आपका कोई प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन सदा अपने से है। दिमाग चींटी पर केन्द्रित है तो चींटी से बच रहे हैं। आपको ऐसा नहीं लगता जैसा महावीर को लगता है। महावीर का चींटी से बचना बहुत भिन्न है—वह चींटी से बचना ही नहीं है। अगर महावीर से हम पूछें कि क्यों बच रहे हैं? तो वे कहेंगे: अपने पर ही पैर कैसे रखा जा सकता है? नहीं, यह बचना नहीं है। असल में अपने पर पैर रखना असंभव है।

रामकृष्ण एक दिन गंगा पार कर रहे हैं। बैठे हैं नाव में। अचानक चिल्लाने लगे हैं जोर से कि 'मत मारो! मत मारो! क्यों मुझे मारते हो?' आस-पास बैठे लोग उनको नहीं मार रहे हैं। सब भक्त हैं। उनके पैर छूते हैं, पैर दबाते हैं, उनको कोई मारता तो नहीं। सब कहने लगे—आप क्या कह रहे हैं? कौन आपको मार रहा है? रामकृष्ण चिल्लाए जा रहे हैं। उन्होंने पीठ उघाड़ दी। पीठ पर देखा तो कोड़े के निशान हैं। खून झलक आया है। सब बहुत घबड़ा गए। रामकृष्ण से पूछा—यह क्या हो गया? किसने मारा आपको? रामकृष्ण ने कहा—वह देखो, वे मुझे मार रहे हैं। उस किनारे पर मल्लाह एक आदमी को मार रहे हैं कोड़ों से, और उसकी पीठ पर जो निशान

बने है वह रामकृष्ण की पीठ पर भी बन गए। ठीक वही निशान। और जब तट पर उतरकर भीड लग गई और दोनों के निशान देखे गए, तो तय करना मुश्किल हो गया कि कोडे किसको मारे गए ?

रामकृष्ण को चोट ज्यादा पहुँची है मल्लाह से। निशान वही है। चोट ज्यादा है। क्योंकि उस आदमी ने तो विरोध भी किया होगा पर, रामकृष्ण ने तो पूरा स्वीकार ही कर लिया ! चोट ज्यादा गहरी हो गई। लेकिन रामकृष्ण के मुख से जो शब्द निकला 'मुझे मत मारो' इसका मतलब समझते है ? एक श द है हमारे पास सहानुभूति। यह सहानुभूति नही है। सहानुभूति हिंसक के मन मे होती है। वह कहता है, मत मारो उसे। दूसरों को मत मारो। सहानुभूति का मतलब है कि मुझे दया आती है। लेकिन दया सदा दूसरे पर आती है। यह सहानुभूति नही है; यह समानुभूति है। यहाँ रामकृष्ण यह नही कह रहे हैं कि उसे मत मारो। रामकृष्ण कह रहे है 'मुझे' मत मारो—यहाँ दूसरा गिर गया।

असल मे दूसरे से जो हमारा फासला है वह शरीर का ही फासला है—चेतना का कोई फासला नही। चेतना के तल पर हम दो नही हे। दूसरे को बचाएँ तो वह अहिंसा नही हो सकती। हम दूसरे को बचाएँ तो वह भी हिंसा ही है। जिस दिन हम ही रह जाते हे और बचने को कोई भी नही रह जाता, उस दिन अहिंसा फलित होती है।

महावीर की अहिंसा को नही समझा जा सका, क्योंकि हम हिंसकों ने महावीर की अहिंसा को हिंसा की शब्दावली दे दी। हमने कहा—दूसरे को दु ख मत दो। लेकिन ध्यान रहे, जब तक दूसरा है तब तक दु.ख जारी रहेगा। चाहे उसकी छाती मे छुरा भोंको, चाहे उसे दूसरे की नजर से छुरा भोंको, उसमे कोई फर्क नही पडता।

क्या आपको खयाल है, आप कमरे मे अकेले बैठे हों और कोई भीतर आ जाय, तो आप वही नही रह जाते जो आप अकेले थे। क्योंकि दूसरे ने आकर हिंसा शुरु कर दी। वह आपको मार नही रहा है, आपको चोट नही पहुँचा रहा है, बहुत अच्छी बातें कर रहा है। कह रहा है, आप कुशल मे तो हैं। जैसे ही कोई कमरे मे भीतर आया उसने आपको भी दूसरा बना दिया। हिंसा शुरु हो गई। अब उसकी आँख, उसका निरीक्षण, उसका देखना, उसका बैठना, उसका होना, हिंसा है। अब आप डर गए। क्योंकि हम सिर्फ हिंसा मे डर

जाते हैं। अब आप भयभीत हो गए, अब आप सँभल कर बैठ गए। आप अपने बाथरूम में और तरह के आदमी होते हैं, आप अपने बैठकखाने में और तरह के आदमी हो जाते हैं। क्योंकि बैठकखाने में हिंसा की संभावना है। बैठकखाना वह जगह है जहाँ हम दूसरे की हिंसा को झेलते हैं, जहाँ हम दूसरों का स्वागत करते हैं, जहाँ हम दूसरों को निमंत्रित करते हैं।

अहिंसात्मक ढंग से हमने बैठकखाना सजाया है। इसलिए बैठकखाना हम खूब सजाते हैं कि दूसरे की हिंसा कम से कम हो जाय। वह सजावट दूसरे की हिंसा को कम कर दे। इसलिए बैठकखाने के हमारे चेहरे मुस्कराते होते हैं, क्योंकि मुस्कराहट दूसरे की हिंसा के खिलाफ आरक्षण है। अच्छे शब्द बोलते हैं बैठकखाने में, शिष्टाचार बरतते हैं, सभ्यता बरतते हैं—यह सब इन्तजाम है।

महावीर की जिन्दगी में एक बहुत अद्‌भुत घटना है। महावीर संन्यास लेना चाहते थे, तो उन्होंने अपनी माँ को कहा कि मैं जाऊँ, संन्यास ले लूँ? उनकी माँ ने कहा, मेरे सामने दुबारा यह बात मत करना। जबतक मैं जिन्दा हूँ तब तक संन्यास नहीं ले सकते। महावीर लौट गए।

अगर महावीर की हिंसक वृत्ति होती तो और जिद पकड़ जाते। कहते—नहीं, ले कर ही रहूँगा। संसार तो सब माया-मोह है। कौन अपना? कौन पराया? यह सब तो झूठ है! तुम रोकने वाली कौन हो? अब बंधन कैसा? लेकिन नहीं; महावीर चुपचाप लौट गए। माँ मर गई। पिता मर गए। मरघट से लौट रहे हैं महावीर। अपने बड़े भाई से कहा कि बात हुई थी माता-पिता से तो वे बोले थे जब तक वे हैं तब तक संन्यास न लूँ, उन्हें दुःख होगा। अब संन्यास ले सकता हूँ? भाई ने कहा, तुम पागल हो गए हो? माँ चली गई, पिता चले गए, हम अनाथ हो गए। तुम भी छोड़ कर चले जाओगे? ऐसा दुःख मैं न सह सकूँगा। महावीर चुप हो गए। फिर उन्होने दुबारा बात न उठाई संन्यास की। बड़े अजीब संन्यासी रहे होगे। इतना भी दुःख दूसरे को पहुँचे, यह भी अर्थहीन मालूम हुआ होगा और ऐसे मोक्ष को भी लेकर क्या करेंगे जिसमें किसी को दुःख देकर जाना पड़ता हो। वे रुक गए।

लेकिन एक अजीब घटना घटी उस घर में। ऐसी घटना शायद पृथ्वी पर और कहीं कभी भी नहीं घटी होगी। घर के लोगों को ऐसा लगने लगा कि महावीर हैं या नहीं, यह संदिग्ध हो गया। ये घर में उठते थे, बैठते थे, आते थे, जाते थे, खाते थे, पीते थे, सोते थे, मगर घर के लोगों को संदेह पैदा होने

जिन्दा रहते हैं। जिस दिन दूसरा गिरता है उसी दिन 'मैं' गिर जाता है।

मैं और तू के गिर जाने से जो शेष रह जाता है वह अहिंसा है। तो जब तक हम कह सकते हैं तू, तब तक हिंसा जारी रहेगी। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि आप 'मैं' शब्द का उपयोग नहीं करेंगे। करना ही पड़ेगा। महावीर भी करते हैं, लेकिन तब वह शब्द है, भाषा का खेल है। तब वह अस्तित्व नहीं है। तब 'मैं' सिर्फ एक शब्द है। बहुत-से शब्द उपयोगी हैं लेकिन अस्तित्व में नहीं हैं, अस्तित्व से उनका कोई संबंध नहीं है।

ध्यान रहे इस 'मैं' और 'तू' के बीच जो उपद्रव पैदा हुआ है वह हिंसा है। दो झूठ खड़े हैं। दो झूठों के बीच जो भी होगा, वह उपद्रव ही होगा। हाँ, यह उपद्रव कभी प्रीतिपूर्ण हो सकता है, कभी अप्रीतिपूर्ण हो सकता है। लेकिन जब तक 'मैं हूं' और जब तक 'तू है' तब तक हिंसा है। यह हिंसा का पहला सूक्ष्मतम रूप है। फिर हिंसा के बहुत रूप हैं जो इससे फैलते चले जाते हैं।

अहिंसा तो एक है, हिंसाएँ अनंत हैं। लेकिन निकलती है एक ही झरने से—वह मैं और तू का झरना, या कहें आत्मअज्ञान का झरना। महावीर को अगर कोई पूछे अहिंसा क्या है? तो वे कहेंगे आत्मज्ञान। हिंसा क्या है? तो वे कहेंगे आत्मअज्ञान।

अपने को ही न जानना हिंसा है। यह बड़ी अजीब बात है। हम तो समझते हैं कि दूसरों को दुःख देना हिंसा है। हम तो समझते हैं दूसरों को सुख देना अहिंसा है, लेकिन ध्यान रहे, दूसरे को चाहे सुख दो, चाहे दुःख दो, हर हालत में दुख ही पहुँचता है। देने की सब आकांक्षाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, क्योंकि दूसरे को सुख दिया नहीं जा सकता। सुख सिर्फ स्वयं को दिया जाता है। जिस दिन आप आप नहीं रह जाते, दूसरा नहीं रह जाता, उस दिन ही आपकी तरफ मुझसे सुख बह सकता है। और जब तक आपको सुख देने की कोशिश मैं करता हूँ तब तक दुःख ही देता हूँ, लेकिन हमें खयाल में नहीं

अहंकार कामचलाऊ अस्तित्व है। हमें अपना कोई पता नहीं है कि मैं कौन हूँ? लेकिन हम कहते हैं 'मैं'। जिसे यह भी पता नहीं है कि मैं कौन हूँ वह भी कहे, मैं हूँ, यह जरा ज्यादती है। क्योंकि होने का दावा तभी किया जा सकता है जब 'कौन होने' का पता हो।

यह मेरा 'मैं' कहाँ से आया? यह कहाँ से पैदा हुआ? अगर यह मेरे ज्ञान से पैदा हुआ है तब तो बड़े मजे की बात है। क्योंकि जिन्होंने भी स्वयं को जाना, उन्होंने मैं कहना बंद कर दिया। जिन्होंने स्वयं को पाया, उन्होंने स्वयं को खो दिया। जिन्होंने स्वयं को नहीं पाया, वे कहते है, 'मैं हूँ।' यह 'मैं' कहाँ से आया? यह आपके भीतर से नहीं आया। यह समाज ने पैदा करवा दिया। वह जो दूसरे हैं उनके साथ व्यवहार करने के लिए आपको एक शब्द खोज लेना पड़ा है कि मैं हूँ, जैसे हमने नाम खोज लिया। बच्चा पैदा होता है बिना नाम के। फिर हम उसको नाम देते हैं—राम, कृष्ण। कुछ भी नाम दे देते है। वह नाम बच्चे के भीतर से नहीं आता, समाज उसे दे देता है। फिर वह जिन्दगी भर राम बना रहता है। वह इस एक शब्द के लिए लड़ेगा, अगर किसी ने गाली दे दी तो लड़ेगा।

रामतीर्थ अमेरिका में थे। कुछ लोगों ने गालियाँ दीं तो वे हँसते हुए घर लौटे। और जब लोगों को पता चला कि उनको गालियाँ दी गईं तो वे बहुत नाराज हुए।

रामतीर्थ को हँसते हुए देखकर उन्होंने पूछा कि आप पागल तो नहीं। आप हँसते क्यों हैं? गालियाँ दी गईं। रामतीर्थ ने कहा, "मुझे कोई गाली देता तो मैं कोई जवाब देता। वे लोग राम को गाली दे रहे थे। राम से अपना क्या लेना-देना है? इस नाम के बिना भी मैं हो सकता था। दूसरे नाम का भी हो सकता था। तीसरे नाम का भी हो सकता था। जब वे राम को गाली दे रहे थे तब हम भी भीतर खड़े खूब हँस रहे थे कि देखो राम, कैसी गालियाँ पड़ रही है! बनोगे राम तो गाली पड़ेगी। उन्होंने नाम दिया, उन्होंने गाली दी। हम बाहर हैं। नाम भी उनका, गाली भी उनकी। समाज दोहरी चाल चलता है—नाम भी देता है, गाली भी देता है। प्रशंसा भी देता है, निंदा भी देता है। आदर भी देता है, अपमान भी देता है। दोहरी चाल है समाज की और उस दोहरी चाल में आदमी बुरी तरह फँसता है। वह दूसरा भी झूठा है, और यह 'मैं'? यह मेरा 'मैं' भी झूठा है। यह तो बस एक शब्द

जिन्दा रहते हैं। जिस दिन दूसरा गिरता है उसी दिन 'मैं' गिर जाता है।

मैं और तू के गिर जाने से जो शेष रह जाता है वह अहिंसा है। तो जब तक हम कह सकते हैं तू, तब तक हिंसा जारी रहेगी। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि आप 'मैं' शब्द का उपयोग नहीं करेंगे। करना ही पड़ेगा। महावीर भी करते हैं, लेकिन तब वह शब्द है, भाषा का खेल है। तब वह अस्तित्व नहीं है। तब 'मैं' सिर्फ एक शब्द है। बहुत-से शब्द उपयोगी हैं लेकिन अस्तित्व में नहीं हैं, अस्तित्व से उनका कोई संबंध नहीं है।

ध्यान रहे इस 'मैं' और 'तू' के बीच जो उपद्रव पैदा हुआ है वह हिंसा है। दो झूठ खड़े हैं। दो झूठों के बीच जो भी होगा, वह उपद्रव ही होगा। हाँ, यह उपद्रव कभी प्रीतिपूर्ण हो सकता है, कभी अप्रीतिपूर्ण हो सकता है। लेकिन जब तक 'मैं हूँ' और जब तक 'तू है' तब तक हिंसा है। यह हिंसा का पहला सूक्ष्मतम रूप है। फिर हिंसा के बहुत रूप हैं जो इससे फैलते चले जाते हैं।

अहिंसा तो एक है, हिंसाएँ अनंत हैं। लेकिन निकलती है एक ही झरने से—वह मैं और तू का झरना, या कहें आत्मअज्ञान का झरना। महावीर को अगर कोई पूछे अहिंसा क्या है? तो वे कहेंगे आत्मज्ञान। हिंसा क्या है? तो वे कहेंगे आत्मअज्ञान।

अपने को ही न जानना हिंसा है। यह बड़ी अजीब बात है। हम तो समझते हैं कि दूसरों को दुःख देना हिंसा है। हम तो समझते हैं दूसरों को सुख देना अहिंसा है, लेकिन ध्यान रहे, दूसरे को चाहे सुख दो, चाहे दुःख दो, हर हालत में दुख ही पहुँचता है। देने की सब आकांक्षाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, क्योंकि दूसरे को सुख दिया नहीं जा सकता। सुख सिर्फ स्वयं को दिया जाता है। जिस दिन आप आप नहीं रह जाते, दूसरा नहीं रह जाता, उस दिन ही आपकी तरफ मुझसे सुख बह सकता है। और जब तक आपको सुख देने की कोशिश मैं करता हूँ तब तक दुःख ही देता हूँ, लेकिन हमें खयाल में नहीं आता।

ध्यान रहे भगवान की मूर्ति पर चढ़ाए गए फूल भी हिंसा हो जाते हैं, क्योंकि हम दूसरे को स्वीकार कर रहे हैं। भक्त वह नहीं है जिसने भगवान की मूर्ति पर फूल चढ़ाये। भक्त वह है जो खोजने निकला और जिसने भगवान के सिवा कुछ भी नहीं पाया।

फूल में भी उसको पाया और पत्थर में भी उसको पाया। चढ़ाने वाले में भी उसे पाया, चढ़ने वाले में भी उसे पाया और वह पूछने लगा कि किसको चढ़ाऊँ और क्या चढ़ाऊँ ? किसके लिए चढ़ाऊँ और कैसे चढ़ाऊँ ? कौन चढ़ाये ?

जब कोई अहिंसा को उपलब्ध होता है, तो दूसरा मिट जाता है। और दूसरा कब मिटता है ? जब कोई स्वयं को जानता है, तब दूसरा मिटता है। उसके पहले नहीं मिटता। फिर हमारी बहुत तरह की हिंसा पैदा होती चली जाती है। हम चलते हैं, तो हिंसा है, हम उठते हैं, तो हिंसा है। हम बैठते हैं, तो हिंसा है। हम बोलते हैं, तो हिंसा है। हम देखते हैं, तो हिंसा है।

आप अक्सर देखेंगे कि मांसाहारी जितना भला आदमी मालूम पड़ेगा, अमांसाहारी उतना भला आदमी नहीं मालूम पड़ेगा। यह अजीब-सी बात है, बड़ी दुःखद है। साधारणतः जो शराब पी लेता है, सिगरेट पी लेता है, होटल में खाना खा लेता है, वह थोड़ा-सा विनम्र आदमी मालूम पड़ेगा। जो सिगरेट नहीं पीता, मांस नहीं खाता, होटल में नहीं खाता, वह अविनम्र और कठोर होता चला जायगा। जो हिंसा उसकी निकलती नहीं है वह इकट्ठी होकर उसके भीतर संग्रहीत होने लगती है। इसलिए आमतौर से जिनको हम अच्छे आदमी कहते हैं अच्छे सिद्ध नहीं होते। दुर्घटना है यह। बुरा आदमी कई बार बहुत अच्छा सिद्ध होता है और अच्छे आदमी अक्सर बुरे सिद्ध होते हैं। अच्छे आदमी के साथ दोस्ती तो मुश्किल ही है, बुरे आदमी के साथ ही दोस्ती हो सकती है। दोस्ती के लिए भी थोड़ा सा विनम्र दिल चाहिए—अच्छे आदमी के पास वह नहीं रह जाता। इसलिए महात्माओं से दोस्ती बहुत मुश्किल है।

आप महात्मा के अनुयायी हो सकते हैं या दुश्मन हो सकते हैं, दोस्त नहीं हो सकते। अच्छे आदमी के पास दोस्ती खो जाती है। अक्सर जो समाज सहज जीते हैं, बुरे और भले का बहुत फर्क नहीं करते वहाँ बड़ी मात्रा में भले आदमी मिल जाते हैं। जो समाज असहज जीते हैं, बुरे-भले का बहुत फर्क करते हैं, वहाँ अच्छा आदमी खोजना मुश्किल हो जाता है; क्योंकि बुराई बाहर से तो रुक जाती है पर उसके भीतर इकट्ठी होती जाती है। इसलिए अक्सर ऐसा हुआ है कि ऋषि-मुनियों मे ज्यादा क्रोधी आदमी खोजना कठिन हो जाता है। दुर्वासा ऋषि-मुनि में ही पैदा हो सकता है, कहीं और नहीं पैदा हो सकता।

इधर मैं निरंतर सोचता रहा तो मेरे खयाल में आया कि अगर हिटलर थोड़ी सिगरेट पीता, थोड़ा मांस खा लेता, थोड़ा बेवक्त जग जाता, थोड़ा जाकर नृत्यगृह में नाच कर लेता, तो शायद दुनिया में करोड़ों आदमी मरने से बच जाते। लेकिन हिटलर सिगरेट नहीं पीता, मांस नहीं खाता, चाय नहीं पीता। पक्का शाकाहारी, प्युरीटन, शुद्धतावादी था। नियम से सोता, नियम से उठता-ब्रह्म मुहूर्त में। सख्त नीतिवादी आदमी, चारों तरफ से सख्त। सारी शक्ति इकट्ठी हो गई।

हमने देखा महावीर को कि महावीर मांस नहीं खाते, तो हमने सोचा हम भी माँस नहीं खायेंगे तो महावीर-जैसे अच्छे हो जायँगे। भूल हो गई, तर्क गलत हो गया। कहीं गणित चूक गया। महावीर कुछ हो गए इसलिए मांस खाना असंभव है। मांस न खाने से कोई महावीर नहीं हो सकता। और अगर मांस न खाने से कोई महावीर हो सके तो महावीर होना दो कौड़ी का हो गया। जितनी कीमत मांस की, उतनी ही कीमत महावीर की हो गई। इतना सस्ता मामला नहीं है। धर्म इतना सस्ता नहीं है कि हम यह नहीं खायँगे तो हम धार्मिक हो जायँगे, हम यह न पीएँगे तो धार्मिक हो जायँगे, हम रात में पानी न पीएँगे तो धार्मिक हो जायँगे।

ध्यान रहे, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि रात में पानी पीयें। पीने से भी धार्मिक नहीं हो जायँगे। नहीं पीते हैं, भला है; लेकिन इस भूल में मत पड़ना कि धार्मिक हो गए, अहिंसक हो गए। वह बड़ा खतरा है! बहुत सस्ता काम किया और बहुत महँगा विश्वास पैदा हो गया। कंकड़-पत्थर गिने और समझा कि हीरे-जवाहरात हाथ आ गए। यह भूल हो गई अहिंसा के साथ। क्योंकि अहिंसा को हमने पकड़ा है आचरण से—गहरे से नहीं, अध्यात्म से नहीं।

मानी। लेकिन दवाना जारी है। अच्छे लोग अच्छे ढंग से दवाते हैं, बुरे लोग बुरे ढंग से दवाते हैं। अगर हिंसा सूक्ष्म हो तो दो रूप लेती है–एक तो दूसरे की तरफ अहिंसा का चेहरा वनाती है पर हिंसा का काम करती है और दूसरी तरफ अगर हिंसा और भी सूक्ष्म हो जाय तो अपने को भी सताना शुरू कर देती है। मजा यह है कि अहिंसा दूसरे को भी नहीं सता सकती, हिंसा अंततः अपने को भी सता सकती है। हिंसा अंत में सेल्फ टार्चर भी वन जाती है।

कभी-कभी कोई महावीर, कोई कृष्ण, कोई वुद्ध, कोई जीसस होता है। आमतौर से दो तरह के आदमी होते हैं, दूसरों को सताने वाले लोग और अपने को सताने वाले लोग, परपीड़क और आत्मपीड़क। तो दुनियाँ में अपने को कोड़े मारने वाले संन्यासी हुए हैं, काँटों पर लेटने वाले संन्यासी हुए हैं, काँटों के जूते पहनने वाले संन्यासी हुए है, घाव वनाने वाले संन्यासी हुए हैं। ये किस तरह के लोग हैं? यह संन्यास हुआ? यह धर्म हुआ?

एक आदमी दूसरे को भूखा मारे तो हम कहेंगे अधार्मिक और एक आदमी अपने को भूखा मारे तो हम जुलूस निकालेंगे। वड़े अधर्म की वात है! क्या दूसरे को सताना अधार्मिकता और अपने को सताना धार्मिक हो सकता है? सताना अगर अधार्मिक है तो इससे क्या फर्क पड़ता है कि किसको सताया? हाँ, दूसरे को सताते तो दूसरा रक्षा भी कर सकता था, अपने को सतायँगे तो रक्षा का भी उपाय नहीं। अपने को सताना वहुत आसान है, दूसरे को सताने में हजार तरह की कठिनाइयाँ हैं। समाज है, कानून है, पुलिस है, अदालत है। ध्यान रहे, जो अपने को सताता है, वह सब तरह से दूसरे को सतायगा ही, क्योंकि जो अपने को नहीं छोड़ता है, वह दूसरे को कैसे छोड़ सकता है? यह असंभव है, यह वहुत असंभव है। अगर मैंने अपने को भूखा रखकर जुलूस निकलवा लिया तो ध्यान रखिए मैं आपको भी भूखा रखवाने के सब उपाय करूँगा और जब तक आपका जुलूस न निकल जाय तब तक चैन न लूँगा। हिंसा और गहरी और सूक्ष्म हो जाती है तो आत्मपीड़क बन जाती है।

महावीर की मूर्ति देखी? क्या यह मालूम पड़ता है कि इसने खुद को सताया होगा? इस आदमी का शरीर देखा? इस आदमी की शान देखी? इस आदमी का सौंदर्य देखा? क्या ऐसा लगता है कि इसने खुद को सताया होगा? कथाएँ झूठी होंगी या फिर यह मूर्ति झूठी। इस आदमी ने अपने को सताया नहीं है। महावीर-जैसी सुन्दर प्रतिमा मैं समझता हूँ, किसी की भी नहीं है।

मैं तो ऐसा समझता हूँ कि महावीर का नग्न हो जाने में उनका सौन्दर्य भी कारण है। असल में कुरूप आदमी नग्न नहीं हो सकता। कुरूप आदमी वस्त्र को सदा सँभाल कर रखेगा, क्योंकि वस्त्रों में सौंदर्य को कोई नहीं छिपाता, वस्त्रों में सिर्फ कुरूपता छिपाई जाती है।

महावीर सर्वांग सुन्दर मालूम होते हैं। ऐसी अनुपात वाला शरीर मुश्किल से दिखाई पड़ता है। इस आदमी की जितनी अपने को सताने की कथाएँ हैं, सभी झूठी हैं। कथाएँ उन्होंने लिखी हैं जो स्वयं को सताने के लिए उत्प्रेरित हैं। वे महावीर के आनन्द को भी दुःख बना रहे हैं। वे महावीर की मौज को भी त्याग बना रहे हैं। वे महावीर के भोग को—परम भोग को—त्याग की व्याख्या दे रहे हैं। मेरी दृष्टि में महावीर महल को छोड़ते हैं, क्योंकि बड़ा महल उन्हें दिखाई पड़ गया। कथाकारों की दृष्टि में वे सिर्फ महल छोड़ते हैं, कोई बड़ा महल दिखाई नहीं पड़ता। मैं मानता हूँ कि महावीर सोने को छोड़ते हैं, क्योकि वह मिट्टी हो गया और परम सुवर्ण उपलब्ध हो गया।

अगर महावीर किसी दिन खाना नहीं खाते तो वह अनशन नहीं है, उपवास है। अनशन का मतलब है भूखे मरना। उपवास का मतलब है इतने आनन्द में होना कि भूख का पता भी न चले। वह बात ही और है। उपवास का मतलब है भीतर और भीतर, पास और पास होना। उपवास का मतलब है, अपने पास होना। जब कोई आदमी बहुत गहरे में भीतर अपने पास होता है तो शरीर के पास नहीं हो पाता, इसलिए शरीर की भूख-प्यास का उसे स्मरण नहीं होता। शरीर के पास होंगे तभी तो खयाल आयगा!

जब ध्यान बहुत भीतर है, तो शरीर से ध्यान चूक जाता है। उपवास का मतलब है, ध्यान की अन्तर्यात्रा। भूखे रहने से आत्मा का मिलने के क्या संबंध हो सकता है?

क्या आत्मा भूख को प्रेम करती है? भूखे रहने से आत्मा का मिलने से कोई संबंध नहीं है। हाँ, आत्मा के मिलने का क्षण भूखा रहना हो सकता है। कभी आपने खयाल किया हो, न किया तो अब करना, कि जिस दिन आप आनंदित होंगे उस दिन भोजन ज्यादा न कर पायेंगे।

अगर कोई प्रियजन घर में आ जाय और आप बहुत आनन्दित हों तो भोजन कम हो जायगा। आनन्द इतना भर देता है कि भीतर कुछ खाली नहीं रह जाता जिसमें भोजन डाला जाय। महावीर ने जिस आनन्द को जाना है

वह तो परम आनन्द है, वह इतना भर देता है कि भीतर जगह खाली नहीं रह जाती।

दुःखी आदमी ज्यादा खाते है। ध्यान रहे, जिस दिन आप दुःख में होंगे उस दिन आप ज्यादा खा जायेंगे, क्योंकि आप खाली होंगे। जो आदमी जितना दुःखी है, उतना ज्यादा खाने लगेगा।

असल में बचपन में बच्चे को पहली बार ही यह बोध हो जाता है कि सुख और खाने में कोई संबंध है। माँ जब बच्चे को पूरा प्रेम करती है तो दूध भी देती है और उस प्रेम में उसे आनन्द भी मिलता है। जिस बच्चे को पक्का आश्वासन है कि जब उसे दूध चाहिए मिल जायगा, वह बच्चा ज्यादा दूध नहीं पीता। माँ परेशान रहती है कि ज्यादा पिलाये। वह ज्यादा नही पीता, क्योकि वह जानता है जब भी चाहिए, मिल जायगा। अगर माँ दूध पिलाने से दुःखी होती है और बच्चे को जबरदस्ती दूध से अलग करती है तो बच्चा ज्यादा पीने लगेगा, क्योकि भविष्य का भरोसा नही है। जहाँ जितनी ज्यादा चिंता होगी, वहाँ उतना ही भोजन ज्यादा शुरू हो जायगा।

चिन्तित लोग खाली हो जाते है। चिन्ता भीतर सब खाली कर देती है। आदमी ज्यादा खाने लगता है। ज्यादा खाना सिर्फ इस बात की सूचना है कि आदमी दुखी है और कम खाना इस बात की सूचना है कि आदमी सुखी है।

आनन्द तो और आगे की बात है। जब कोई आनन्द से भर जाता है तो महीनो भी बीत सकते है। ध्यान रहे, महावीर के महीनों उपवास में बीते। महीनों उन्होने भोजन नही किया, ऐसा नही कहूँगा—भोजन नही कर पाए, ऐसा कहूँगा। ऐसे भरे हुए थे! यह बड़े मजे की बात है कि शरीर को नुकसान भोजन के न होने से इतना नही पहुँचता जितना नही मिला इससे पहुँचता है। गहरे में शरीर को जो नुकसान पहुँचते है वह मनोदशाओं से पहुँचते है।

बंगाल मे प्यारी बाई नाम की एक महिला थी, जिसने तीस साल, पूरे तीस साल, भोजन नही किया और शरीर को कोई नुकसान ही नही पहुँचा। महावीर की बात तो पुरानी हो गई इसलिए इसकी मेडिकल परीक्षा का कोई उपाय नही है। लेकिन प्यारी बाई का सब तरह से मेडिकल परीक्षण हुआ। तीस साल उसने कोई भोजन नही किया। उसके पेट में कुछ दाना नही गया, उसकी सारी अँतड़ियाँ सिकुड़कर सूख गई। लेकिन उसके स्वास्थ्य को कोई

फर्क नहीं पहुँचा। क्या हुआ ? एक चमत्कार हुआ ! मेडिकल साइन्स को समझना मुश्किल हो गया कि इसे क्या हुआ।

असल में वह इतनी आनन्दित थी कि हम सोच भी नहीं सकते कि आनन्द भी भोजन बन सकता है। हम सिर्फ एक ही बात जानते हैं कि भोजन आनन्द बनता है। दूसरा छोर हमें पता नहीं कि आनन्द भी भोजन बन सकता है। प्यारी बाई तीस साल तक भूखे रहकर बता गई कि भूखे महावीर ने अगर बारह साल में कुल ३६५ दिन भोजन किया होगा, तो यह अनशन नहीं था अन्यथा शरीर चला गया होता। आनन्द भोजन बन गया !

अभी यूरोप में एक महिला थी। उस पर तो और भी प्रयोग हो सके। वह परम स्वस्थ थी, असाधारण रूप से स्वस्थ और वर्षो उसने भोजन नहीं किया। क्या हुआ ? वह क्राइस्ट की दीवानी थी। और प्यारी बाई से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण घटना उसकी जिन्दगी में थी। क्योंकि हर शुक्रवार को (जब क्राइस्ट को सूली लगी) बिना कोई चोट पहुँचाए उसके दोनों हाथों से खून बहने लगता था। इतनी एक हो गई थी एम्पथी में कि वह ऐसा नहीं बोलती थी कि जीसस ने कहा। वह ऐसा बोलती थी कि मैंने कहा था—"जब मुझे सूली लगी तो मैं ने कहा था इन सबको माफ कर दो क्योंकि ये निर्दोष हैं और नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।" तो ठीक शुक्रवार के दिन, जिस दिन जीसस को सूली लगी, उसके हाथ फैल जाते, आँखें बन्द हो जातीं और उसके हाथ से खून गिरना शुरू हो जाता। शुक्रवार की रात घाव विदा हो जाते। खून बन्द हो जाता। दूसरे दिन हाथ बिलकुल ठीक हो जाते। और सैकड़ों बार उसके हाथ से खून बहा, और भोजन उसका बन्द। बड़ी मुश्किल हो गई लेकिन उसका वजन कम न हुआ। तो क्या हुआ ?

एक बहुत कीमती बात आपसे कहना चाहता हूँ। वह यह कि कुछ सूत्र हैं, कुछ राज हैं, जिनके द्वारा आनन्द भी भोजन बन जाता है। लेकिन वह उपवास है—अनशन नहीं है।

अहिंसा न तो किसी और को सताती है, न स्वयं को सताती है। अहिंसा सताती ही नहीं। हिंसा ही सताती है। हिंसा के गृहस्थ रूप हैं, हिंसा के संन्यस्त रूप हैं, हिंसा के अच्छे रूप हैं, बुरे रूप हैं। और अगर हम दोनों से सजग हो जायें तो शायद अहिंसा की खोज हो सकती है।

रहेंगी, बीज टूटेंगे, वृक्ष बनेंगे, पक्षी अंडे देते रहेंगे—सब स्वभाव से होता है। स्वभाव में कहीं कोई विपरीतता पैदा न होगी।

मनुष्य के आने के साथ ही एक अद्भुत घटना जीवन में घटी है। सबसे बड़ी घटना, जो जगत में घटी, यह है कि मनुष्य के पास शक्ति और क्षमता है कि वह स्वभाव के प्रतिकूल जा सके, स्वभाव से उलटा जा सके। यह मनुष्य की गरिमा भी है और दुर्भाग्य भी। इसीलिए वह श्रेष्ठतम प्राणी भी है। वह चाहे तो स्वभाव में जिये और चाहे तो स्वभाव के प्रतिकूल चला जाय। साथ ही स्वतंत्र प्राणी भी है। स्वतंत्र का मतलब यह कि वह वह भी कर सकता है जो प्रकृति में नहीं होता। वह आग को ठंडा कर सकता है, हवा को दृश्य बना सकता है, पानी को नीचे न बहाकर ऊपर की तरफ बहा सकता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य सोच सकता है, क्योंकि उसके पास बुद्धि है। उसकी बुद्धि निर्णायक है कि वह क्या करे, क्या न करे। ऐसा करे या वैसा करे, यह करना ठीक होगा या वह। मनुष्य के भीतर स्वतंत्रता का सूत्र है और प्रकृति के ऊपर उठने की सम्भावना भी। लेकिन मनुष्य स्वभाव के प्रतिकूल तो जा सकता है लेकिन स्वभाव के प्रतिकूल जाने से जो दुख होते हैं वह उसे झेलने ही पड़ेंगे। तो उसकी स्वतंत्रता, स्वच्छंदता नहीं है। उस पर एक गहरी रुकावट है। वह स्वतंत्र है, वह प्रकृति से प्रतिकूल काम करेगा। लेकिन प्रतिकूल काम करने से जो भी परिणाम होंगे, वे दुखद होंगे। वह उसे झेलने ही पड़ेंगे। अधर्म का मतलब इतना ही है। अधर्म का मतलब यही है कि जो स्वभाव में नहीं है वैसा करना। जो नहीं करना चाहिए था, वैसा करना। जिसे करने से दुख उत्पन्न होता है वैसा करना। जिसे भी करने से दुखद परिणाम आते हैं वह अधर्म है। स्वभाव में दुख की गुंजाइश ही नहीं है। इसलिए मनुष्य को छोड़कर इस जगत में और कोई दुखी नहीं है, चिंतित नहीं है, तनावग्रस्त भी नहीं है। मनुष्य को छोड़कर और कोई प्राणी पागल होने की क्षमता नहीं रखता, विक्षिप्त नहीं होता क्योंकि वह अपने स्वभाव में ही जीता है। स्वभाव में सुख है, स्वभाव के प्रतिकूल जाने में दुख है। लेकिन और कोई प्राणी जा ही नहीं सकता। स्वभाव में जीना उसका चुनाव नहीं है, स्वभाव में जीना उसकी मजबूरी है। इसलिए यह बात गौरवपूर्ण नहीं है।

मनुष्य स्वभाव के प्रतिकूल जा सकता है, यह गौरवपूर्ण है। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि इससे सौभाग्य आये। इससे दुर्भाग्य आ सकता है। अगर

वह प्रतिकूल जायगा तो दुख उठायगा। स्वभाव में रहने की अगर मजबूरी हो तो सुख तो होता है, लेकिन आनन्द कभी नहीं होता। मनुष्य के जीवन में एक नया सूत्र खुलता है आनन्द का। आनन्द का मतलब यह है कि स्वभाव के प्रतिकूल जा सकता था और नहीं गया। जाता तो दुख उठाता। अगर जा ही नहीं सकता और स्वभाव में रहता तो सुख पाता। लेकिन जा सकता था, नहीं गया, तब भी सुख उपलब्ध होता है। वही आनन्द है। सुख के साथ स्वतंत्रता जब जुड़ जाती है तो आनन्द बन जाता है। ताओ का अर्थ है—जैसा सारा जगत मजबूरी में जीता है, वैसे हम अपनी स्वतंत्रता में जीएं। प्रकृति का पार कर गया पर परमात्मा में प्रविष्ट नहीं हुआ बस द्वार पर खड़ा है परमात्मा के। चाहे तो प्रवेश करे, चाहे तो लौट जाय। इसकी कोई मजबूरी नहीं है। लौटने से जो दुख होगा वह झेलना पड़ेगा। प्रवेश से जो आनन्द होगा वह मिलेगा। चुनावपूर्वक, स्वतंत्रतापूर्वक जो व्यक्ति स्वभाव में जीने को राजी हो जाता है वह ताओ को उपलब्ध हो जाता है। स्वभाव में कुछ अच्छा और बुरा नहीं होता, जो होता है, होता है। हम यह नहीं कह सकते कि पानी नीचे को तरफ बहता है तो पाप करता है। हम ऐसा नहीं कह सकते कि पानी नीचे की तरफ बहता ही क्यों है ? यह उसका स्वभाव है। इसमें पाप-पुण्य कुछ भी नहीं, अच्छा-बुरा भी कुछ नहीं है।

आग जलाती है तो हम यह नहीं कह सकते कि आग बहुत पाप करती है। जलने से कोई कितना भी दुख पाता हो लेकिन आग की तरफ से कोई पाप नहीं है, यह उसका स्वभाव है। यह उसकी मजबूरी है। वह आग है इसलिए जलाती है। इसमें आग होना और जलाना एक ही चीज को कहने का दो ढंग है। इसलिए प्रकृति में कोई पाप-पुण्य नही है। जैसे हम शेर को पापी समझते है क्योंकि वह गाय को खा जाता है। इसलिए पुण्यात्मा लोग ऐसी तस्वीरें बनाते हैं जिसमें गाय और शेर एक ही साथ पानी पी रहे हैं। इसमें गाय के साथ तो बहुत भला हो गया लेकिन शेर का क्या होगा ? इन पुण्यात्माओं ने कभी गाय को और घास को एक साथ खड़ा होते नहीं बताया। नहीं तो गाय के साथ भी वही हो जायगा जो शेर के साथ हो रहा है। क्योंकि घास भी तो मरी जा रही है गाय के साथ। गाय मजे से घास चर रही है और शेर को गाय के बगल में दिखा दिया गया है। वह गाय को नहीं खा रहा है। हम अपनी धारणाएँ थोपते हैं। प्रकृति में न कुछ शुभ है, न अशुभ है।

कोई अच्छे और बुरे की बात प्रकृति में नहीं है क्योंकि वहाँ विकल्प नहीं है, वहाँ चुनाव ही नहीं है। शेर जानकर गाय को नहीं खाता और गाय जानकर घास को नहीं खाती। किसी का किसी को दुख पहुँचाने का कोई इरादा नहीं है। बस, ऐसा होता है।

आदमी के साथ सवाल उठता है, क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्योंकि आदमी चुन सकता है। ऐसा कुछ भी नहीं है आदमी के साथ जो होता ही है। कुछ भी हो सकता है। अनन्त सम्भावनाएँ हैं। आदमी गाय भी खा सकता है, घास भी खा सकता है। घास को भी छोड़ सकता है, गाय को भी छोड़ सकता है। बिना खाये मर सकता है। आदमी के साथ अनन्त सम्भावनाएँ खुल जाती हैं। इसलिए सवाल उठता है कि क्या ठीक है और क्या गलत है?

कहानी है कि कन्फ्यूसस लाओत्से के पास गया और लाओत्से से उसने कहा कि लोगों को बताना पड़ेगा कि क्या ठीक है, क्या गलत है। लाओत्से ने कहा कि यह तभी बताना पड़ता है जब ठीक खो जाता है। कन्फ्यूसस ने कहा कि लोगों को धर्म तो समझना ही पड़ेगा। लाओत्से ने कहा कि तभी समझना पड़ता है जब धर्म का कुछ पता नहीं चलता कि क्या धर्म है, जब धर्म खो जाता है। आदमी के साथ खो ही गया है। उसके पास कोई साफ सूत्र जन्म के साथ नहीं है जिसपर वह चले। उसे अपने चलने के सूत्र भी जीने के साथ ही साथ खोजने पड़ते हैं। उसकी स्वतंत्रता तो बहुत है लेकिन स्वभाव के प्रतिकूल चले जाने की सम्भावना भी उतनी ही है। हम ऐसा भी कर सकते हैं जो करना हमें दुख में ले जायगा और ऐसा हम रोज कर रहे हैं। ताओ का मतलब है फिर उस जगह खड़े हो जाना, उस बिन्दु पर, जहाँ से चीजें साफ दिखाई पड़नी शुरू हो जाती हैं। जहाँ हमें तय नहीं करना पड़ता है कि क्या ठीक है और क्या गलत है। बल्कि जहाँ से हमें दिखाई ही पड़ता है कि यह ठीक है और यह गलत है। जहाँ हमें विचार नहीं करना पड़ता है, बल्कि दिखाई पड़ता है। ताओ की साधना क्या है?

ताओ की साधना एक ऐसे बिन्दु पर खड़े हो जाने का उपाय है जहाँ से हमें दिखाई पड़े कि क्या ठीक है और क्या गलत है। जहाँ हमें सोचना न पड़े कि क्या ठीक है, क्या गलत है। क्योंकि सोचेगा कौन? सोचूँगा मैं? और अगर मैं सोच ही सकता तब तो कहना ही क्या! मुझे पता नहीं है इसलिए तो मैं सोच रहा हूँ। और जो मुझे पता नहीं है उसे मैं सोचकर

पता नहीं लगा सकता। सोच हम उसी को सकते हैं जो हम जानते हैं। अनजान को हम सोच नहीं सकते। इतना तो साफ है कि क्या ठीक है क्या गलत है, क्या स्वभाव है क्या विभाव है—मुझे कुछ पता नहीं। अब हम कहते हैं, हम सोचेंगे। जहाँ से सोचना शुरू होता है वहाँ से दर्शन शुरू होता है। इसलिए कहूँगा कि ताओ का कोई दर्शन नहीं है। जहाँ से सोचना शुरू होता है कि क्या ठीक है और क्या गलत है, क्या करें क्या न करें, क्या करना पुण्य है, क्या करना पाप है, क्या करेंगे तो सुख होगा, क्या करेंगे तो दुख होगा? जहाँ यह सोचना है, वहाँ दर्शन है। ताओ यह कह रहा है, कि सोच कर तुम पाओगे कैसे? अगर तुम्हें पता ही होता तो तुम सोचते ही न। और अगर तुम्हें पता नहीं तो तुम सोचोगे कैसे? सोचने से नया कभी उपलब्ध नहीं होता, न कभी उपलब्ध हुआ है, न हो सकता है। सोचने से सिर्फ पुराने के नए संयोग बनते हैं। कभी कोई नया उपलब्ध नहीं हो सकता। चाहे विज्ञान की कोई नई प्रतीति हो, चाहे धर्म की कोई नई अनुभूति हो। सब सोचने के बाहर घटती हैं। सोचने के भीतर नहीं घटती हैं। विज्ञान की भी नहीं घटती। कुछ नया तब आता है जब आप सोचने के बाहर होते हैं। भले यह हो सकता है कि आप सोच-सोच कर थक कर बाहर हो जायें। यह हो सकता है कि एक आदमी अपनी प्रयोगशाला में सोच-सोच कर थक गया है और दिन भर सब तरह के प्रयोग किए हैं और कोई फल नहीं पाया। वह रात सो गया है और अचानक उसे सपने में खयाल आ गया या सुबह उठा और उसे खयाल आया है, तो वह यही कहेगा कि मैंने तो जो सोचा था उससे ही यह खयाल आया है। पर यह उससे नहीं आया। यह तो जब सोचना थक गया था, ठहर गया था, तब वह ताओ में पहुँच गया। जब कोई सोचने से छूट जाता है तत्काल स्वभाव में आ जाता है। क्योंकि और कहीं जाने का उपाय नहीं है। विचार एकमात्र व्यवस्था है, जिसमें हम स्वभाव के बाहर चले जाते हैं। जैसे मैं इस कमरे में सो जाऊँ और रात सपना देखूँ। मैं सपने में इस कमरे के बाहर जा सकता हूँ। लेकिन सपना टूट जाय तो मैं इसी कमरे में खड़ा हो जाऊँगा। फिर मैं यह नहीं पूछूँगा कि इस कमरे में आया कैसे? तब मैं तत्काल जानूँगा कि सपने में बाहर गया था। मैं बाहर गया नहीं था, सिर्फ खयाल था कि मैं बाहर गया हूँ, पर था मैं यहीं। जब मैं बाहर गया था ऐसा देख रहा था, तब भी मैं यहीं था। तो ताओ यह कहता है कि तुम कितने ही सोच

रहे हो कि यहाँ चले गए, वहाँ चले गए, तुम ताओ से जा नहीं सकते। रहोगे तो तुम वहीं, क्योंकि स्वभाव के बाहर जाओगे कैसे ? स्वभाव का मतलब है कि जिसके बाहर न जा सकोगे। जो तुम्हारा होना है, उससे बाहर जाओगे कैसे ? लेकिन सोच सकते हो बाहर जाने के लिए।

इसलिए दूसरी बात खयाल में ले लेने-जैसी है कि मनुष्य की जो स्वतंत्रता है वह भी सोचने की स्वतन्त्रता है। सोचने में वह बाहर चला गया है। विचार में वह भटक रहा है। अगर सारा विचार ठहर जाय तो वह ताओ पर खड़ा हो जायगा। जिसको हम ध्यान कहते हैं, या जिसको जापानी लोग जेन कहते हैं उसको लाओत्से ताओ कहता है। उस जगह खड़े हो जाना है जहाँ कोई विचार नहीं है। वहाँ से तुम्हें वह दिखाई पड़ेगा जो है, जैसा होना चाहिए। जैसा होना सुख देगा, आनन्द देगा वह दिखाई पड़ेगा। और यह अब चुनना नहीं पड़ेगा कि इसको मैं करूँगा तो यह होना शुरू हो जायगा। ताओ की जो मौलिक प्रक्रिया साधना है, वह तो ध्यान ही है। वहाँ आ जाना है जहाँ कोई सोच-विचार नहीं है। लाओत्से कहता है—तुमने सोचा, रत्ती भर विचार, और स्वर्ग और नर्क अलग, इतना बड़ा फासला हो जायगा। लाओत्से के पास कोई आया है और उससे कुछ पूछता है। वह उसे जवाब देता है। और जब वह जवाब देता है तब वह आदमी सोचने लगता है। लाओत्से कहता है कि बस सोचना मत। क्योंकि सोचा तो जो मैंने कहा उसे तुम कभी न समझ पाओगे। सोचना मत, जो मैंने कहा उसे सुनो, सोचो मत। अगर सुन सके तो बात हो जायगी। अगर सोचा, तो गए ! सोचना ही था तो मुझसे पूछा क्यों ? तुम्हीं सोच लेते। कौन तुम्हें मना करता ? सोचते ही हम तत्काल स्वभाव के बाहर हो जाते हैं। इसलिए विचार जो है वह स्वभाव के बाहर छलांग है; लेकिन विचार में ही ! इसलिए मूलतः हम कहीं नहीं गए होते। गए हुए मालूम पड़ते हैं। ताओ की साधना का अर्थ हुआ—सोच-विचार छोड़कर खड़े हो जाना। जहाँ कोई विचार न हो, सिर्फ चेतना रह जाय, सिर्फ होश रह जाय तो वहाँ से जो ठीक है वह न केवल दिखाई पड़ेगा बल्कि होना शुरू हो जायगा। इसलिए ताओ को जीनेवाला आदमी न नैतिक होता है न अनैतिक होता है, न पापी होता है न, पुण्यात्मा होता है, क्योंकि वह कहता है कि जो हो सकता है वही हो रहा है, मैं कुछ नहीं करता।

एक ताओ फकीर से जाकर कोई पूछता है कि आपकी साधना क्या है ?

तो वह कहता है कि जब मेरी नींद टूटती है, मैं उठ जाता हूँ। अगर नींद आ जाती है तो मैं सो जाता हूँ। और जब भूख लगती है तो खाना खा लेता हूँ। वह कहता है—यह तो हम सभी करते हैं। फकीर कहता है कि यह तुम सभी नहीं करते। जब नींद आई, तब तुम कब सोए? तुमने और हजार काम किए। और जब नींद आई थी तब तुमने नींद लाने की कोशिश की थी। और तुम कब उठे? जब नींद टूटी हो या नींद तोड़कर उठ आए हो। या नींद टूट गई हो और तुम नहीं उठे हो! तुमने कब खाना खाया, जब भूख लगी हो?

साइबेरिया का एक एस्कीमों पहली दफा इंगलैंड आया। वह बहुत हैरान हुआ। सबसे बड़ी हैरानी उसकी यह हुई कि लोग घड़ी देखकर कैसे सो जाते हैं और घड़ी देखकर कैसे खा लेते हैं! जिस घर में वह मेहमान था वहाँ यह देखकर वह बहुत परेशान हुआ कि सारे लोग एक साथ खाना कैसे खा लेते हैं! क्योंकि यह हो नहीं सकता कि एक साथ सभी को भूख लगती हो। हमारे यहाँ जिसको भूख लगती है, वह खाता है। किसी को कभी लगती है, किसी को कभी लगती है। घर भर के लोग एक साथ टेबुल पर बैठकर खाना खाते हैं। सब लोगों का एक साथ भूख लगना बड़ी असम्भव घटना है। लोग कहते हैं कि बारह बज गए और सो जाते हैं। यह बिलकुल समझ के बाहर की बात उसे मलूम हुई, क्योंकि साइबेरिया से आनेवाला आदमी अभी भी ताओ के ज्यादा करीब है। अभी भी जब उसे भूख लगती है तब खाता है, नहीं लगती है तो नहीं खाता है। जब नींद आती है तो सोता है, जब नींद टूटती है तो उठता है। ब्राह्म मुहूर्त में उठना चाहिए, ऐसा ताओ नहीं कहेगा। ताओ कहेगा, जब तुम उठ जाते हो वही ब्राह्म मुहूर्त है। तो वह फकीर ठीक कह रहा है कि जो होता है वह हम होने देते हैं। हम कुछ भी नही करते।

मनुष्य एक बार भी फिर से अगर प्रकृति की तरह जीने लगे तो ताओ को उपलब्ध होना है। जब उसे जो होता है, होने देता है। यह बहुत गहरे तल तक है। यह खाने और पीने की बात ही नही है। अगर उसको क्रोध आता है तो वह क्रोध को भी आने देता है। अगर उसको काम उठता है तो वह काम को भी उठने देता है। क्योंकि वह कहता है कि मैं कौन हूँ? जब उठना है, उठे। असल में जो होता है, ताओ कहता है, उसे होने देना है। तुम कौन हो जो बीच में आते हो। अगर कोई व्यक्ति सब होने दे, जो होता है, तो साक्षी ही रह जायगा और तो कुछ बचेगा नहीं। देखेगा कि क्रोध आया,

देखेगा कि भूख आई, देखेगा कि नींद आई। वह साक्षी हो जायगा। तो ताओ की जो गहरी से गहरी पकड़ है वह साक्षी में है। वह देखता रहेगा। एक दिन वह यह भी देखेगा कि मौत आई और देखता रहेगा--क्योंकि जिसने सब देखा हो जीवन में, वह फिर मौत को भी देख पाता है। हम जीवन को नहीं देख पाते हैं, हम सदा बीच में आ जाते हैं तो मौत के वक्त भी हम बीच में आ जाते हैं और नहीं देख पाते हैं कि क्या हो रहा है। जिसने नींद को आते देखा और जाते देखा वह मौत को भी देखेगा। जिसने बीमारी को आते देखा और जाते देखा, क्रोध को आते देखा और जाते देखा वह एक दिन मौत को भी आते देखेगा। वह जन्म को भी आते देखेगा। वह सबका देखने वाला हो जायगा। जिस दिन हम सबके देखने वाले हो जाते हैं उसी क्षण हम पर कर्म का कोई बंधन नहीं रह जाता। क्योंकि कर्म का सारा बंधन हमारे कर्ता होने में है कि मैं कर रहा हूँ। चाहे पूजा कर रहा हूँ, चाहे भोजन कर रहा हूँ, 'मैं' करनेवाला मौजूद है। तो ताओ की जो अंतिम घटना है उसमें 'मैं' तो खो जायगा, कर्ता खो जायगा; साक्षी रह जायगा। हम इसमें कुछ भी करनेवाले नहीं हैं यह अब नहीं है। ऐसी जो चेतना की अवस्था, है, जहाँ न कोई शुभ है न कोई अशुभ है; न अच्छा है, न बुरा है। जहाँ सिर्फ स्वभाव है और स्वभाव के साथ पूरे भाव से रहने का राजीपन है। जहाँ कोई संघर्ष नहीं, जहाँ कोई झगड़ा नहीं, ऐसा हो वैसा हो, ऐसा कोई विकल्प नहीं। जो होता है उसे होने देने की तैयारी है। इसलिए ताओ-जैसे छोटे शब्द में सब आ गया है, जो भी श्रेष्ठतम है साधना में, और जो भी महानतम है मनुष्य की अध्यात्म की खोज में। समाधि में जो भी पाया गया है वह सब इस छोटे-से शब्द में समाया हुआ है। यह शब्द बहुत कीमती है। इसलिए ताओ का अनुवाद नहीं हो सकता। धर्म से हो सकता था, लेकिन धर्म विकृत हुआ है। मूल स्वभाव में जीने की सामर्थ्य सबसे बड़ी सामर्थ्य है, क्योंकि तब न निन्दा का उपाय है, न प्रशंसा का उपाय है। तब कोई उपाय ही नहीं है।

लाओत्से के पास सम्राट् ने किसी को भेजा है कि लाओत्से को बुला लाओ, सुनते हैं बहुत बुद्धिमान आदमी है, उसे अपना वजीर बना लें। वह आदमी गया है। जहाँ भी उसने लोगों से पूछा, उन्होंने कहा कि लाओत्से को खुद ही पता नहीं होता है कि कहाँ जा रहा है। जहाँ पैर ले जाते हैं चला जाता है। पहले से वह खुद भी बता नहीं सकता कि कहाँ जायगा। यह बताना मुश्किल

देते हैं जो हमारे भीतर से होता है। स्वभाव को होने देने का मतलब यह है कि हम किसी का अनुकरण न करें। किसी के विरोध में अपने व्यक्तित्व का आयोजन न करें। जो हो सकता है भीतर से, जो होना चाहता है वह हम होने देंगे, उसपर कहीं कोई रुकावट न हो। कोई निन्दा न हो, कोई विरोध न हो, कोई संघर्ष न हो, कोई द्वन्द्व न हो। जो होता है उसे होने दें। तब उसका मतलब यह है कि बुरे-भले का खयाल तत्काल छोड़ देना पड़ेगा। क्योंकि बुरा-भला ही हमें निन्दा करवाता है। यह करो और यह मत करो। यह सारे बुरे भले का, शुभ-अशुभ का खयाल छोड़कर और उस बिन्दु पर हमें खड़े होकर देखना पड़ेगा कि जीवन अब वहाँ जाय, जिस बिन्दु पर कोई विचार नहीं है। अगर आपके मस्तिष्क से सोचने की सारी शक्ति छीन ली जाय फिर भी आप साँस लेंगे। अभी भी साँस ले रहे हैं। लेकिन साँस तक के लेने में फर्क पड़ जायगा। साँस पर हम आमतौर से कोई खयाल नहीं करते हैं। लेकिन फिर भी हमारे विचार की प्रक्रिया साँस पर कई तरह की बाधा डालती रहती है। रात में हम दूसरी तरह की साँस लेते हैं। अगर कोई बीमार रात में सोना बंद कर दे तो उसकी बीमारी ठीक होना मुश्किल हो जाती है। क्योंकि जागते में बीमारी का खयाल बीमारी को बढ़ावा देने लगता है। जरूरी होता है कि कोई बीमार हो तो पहले उसे नींद आए। क्योंकि नींद में वह बीमारी का खयाल छोड़ पावे और उसका स्वभाव जो कर सकता है, कर सके। वह स्वयं बाधा न दे। यह बहुत मजे की बात है कि आमतौर से कुरूप बच्चा खोजना बहुत मुश्किल है। सभी बच्चे सुन्दर होते हैं। असल में बच्चा कुरूप होता ही नहीं है। किसी बच्चे को देखकर यह कभी खयाल में नहीं आया होगा कि वह कुरूप है। लेकिन ये ही बच्चे बड़े होकर कुरूप हो जाते हैं। सुन्दर आदमी खोजना मुश्किल हो जाता है। बात क्या है? बच्चे का सौन्दर्य कहाँ से आता है—ताओ से। वह वैसे ही जी रहा है, जैसे है। यानी बड़ी से बड़ी जो कुरूपता है, बड़ी से बड़ी अग्लीनेस जो है, वह सुन्दर होने की चेष्टा से पैदा होती है। जो दीखना चाहिए उसको हम खोजना शुरू कर देते हैं। इसलिए स्त्रियाँ मुश्किल से सुन्दर हो पाती हैं। सुन्दर होने का जो अति विचार है, वह बहुत गहरी और छिपी कुरूपता भीतर भरता है। बहुत कम स्त्रियाँ हैं जिनमें कोई सौन्दर्य की गहराई होती है। बच्चे सभी सुन्दर मालूम होते हैं, जो हैं; जैसे हैं वैसे हैं। कुरूप हैं तो कुरूप होने को भी राजी हैं।

उसमें भी कोई बाधा नहीं है। तब एक और तरह का सौन्दर्य उनमें प्रकट होता है। जिसको ताओ का सौन्दर्य कहते हैं। इसी तरह जीवन के सारे पहलुओं पर, एक बहुत बुद्धिमान आदमी, जो सब प्रश्नों का उत्तर जानता है, लेकिन जरूर ऐसे प्रश्न होंगे जिसका उत्तर उसे पता नहीं। जब उसके जाने हुए प्रश्न आप पूछते हैं वह उत्तर देता है। यदि आप ऐसा प्रश्न खड़ा कर देंगे जो उसे पता नहीं, तो वह तत्काल अज्ञानी हो जाता है। क्योंकि जो बुद्धिमत्ता थी, वह साधी गई थी। इसलिए बुद्धिमान आदमी नए प्रश्नों को स्वीकार नहीं करना चाहता। नए सवाल वह उठाना नहीं चाहता और कहता है कि पुराने सवाल ठीक हैं। वह कहता है पुराने जवाब ठीक हैं। क्योंकि पुराने जवाब तभी तक ठीक हैं जब तक नया सवाल नहीं उठता है। नया सवाल उठता है तो बुद्धिमान आदमी गया। लेकिन ताओ के पास कोई जवाब नहीं है। इसलिए ताओ की बुद्धिमत्ता जिसको उपलब्ध हो जाय उसके लिए कोई सवाल न नया है न पुराना है। इधर सवाल खड़ा होता है उधर वह उस सवाल से जूझ जाता है। उसके पास कुछ तैयार नहीं है। कन्फ्यूसस जब लाओत्से से मिला तो, उसके मित्रों ने पूछा कि क्या हुआ ? उसने कहा कि आदमी की जगह तुमने मुझे अजगर के पास भेज दिया। वह आदमी ही नहीं है। वह तो खा जायगा। मेरी सारी बुद्धिमत्ता चकनाचूर हो गई। बल्कि उस आदमी के सामने मुझे पता चला कि मेरी बुद्धिमत्ता कुछ नहीं है, सिर्फ एक चालाकी है। उस आदमी ने ऐसे सवाल पूछे जिनका जवाब मुझे पता नहीं था और मुझे यह भी पता नहीं था कि यह भी सवाल है और तब वह बहुत हँसने लगा। अब उस आदमी के सामने मैं दोबारा नहीं जा सकूँगा। क्योंकि उस आदमी के पास मेरी सारी बुद्धिमत्ता चालाकी से ज्यादा साबित नहीं हुई।

ताओ की अपनी एक बुद्धिमत्ता है, जिस बुद्धिमत्ता में कुछ तैयार नहीं है। चीजें आती हैं और स्वीकार कर ली जाती हैं और जो भी होता है उसे होने दिया जाता है। इसलिए ताओ का व्यवहार तय करना बहुत कठिन है। हो सकता है कि आप किसी ताओ में स्थिर आदमी से कोई सवाल पूछें और वह जवाब न दे और आपको चाँटा मार दे। क्योंकि वह यह कहेगा कि यही हुआ। वह यह भी नहीं कहता है कि आप न मारें। आप जवाब में मार सकते हैं। तब जो करना है कर सकते हैं। लेकिन वह यह कहेगा कि जो हो सकता था, वह हुआ। और अगर उसके चाँटे को समझा जाय तो शायद

आपके लिए वही जवाब था। सभी प्रश्न ऐसे नहीं कि उनके उत्तर दिए जायँ। बहुत प्रश्न ऐसे हैं जिनका चाँटा ही अच्छा उत्तर होगा। हमारे खयाल में नहीं आयगा कि चाँटा कैसे अच्छा है!

एक ताओ फकीर के पास एक युवक पूछने गया। उसने उससे पूछा कि ईश्वर क्या है, धर्म क्या है? तो वह फकीर उठा और एक चाँटा लगाकर फिर दरवाजा बन्द करके उसे बाहर कर दिया। युवक बहुत परेशान हो गया। वह बहुत दूर से पहाड़ चढ़ कर उसके पास आया था। सामने एक दूसरे फकीर का झोंपड़ा था। वह उसमें जाता है और कहता है, किस तरह का आदमी है यह। तब वह फकीर डंडा उठाता है। युवक कहता है कि यह आप क्या कर रहे हैं? उसने कहा कि तू बहुत दयालु आदमी के पास गया था, अगर हमारे पास तू आता तो हम डंडा ही मारते। वह आदमी सदा का दयालु है। तू वापस वहीं जा। उसकी बड़ी करुणा है। उसने इतना भी किया जो कुछ कम नहीं है। वह आदमी वापस लौटता है और कुछ समझ नहीं पाता है कि क्या मामला है। दरवाजा खटखटाता है। वह फकीर उसे भीतर बुलाकर बड़े प्रेम से बिठा लेता है और कहता है, पूछ। तब वह युवक कहता है कि अभी मैं आया था तो आपने मुझे मारा और अब आप इतने प्रेम से बिठा रहे हैं। तब फकीर कहता है कि जो मार नहीं सह सकता है, वह प्रेम तो सह ही न सकेगा। क्योंकि प्रेम की मार तो बहुत कठिन है। मगर तू लौट आया। तब आगे बात चल सकती है। उसने कहा, मैं तो डर कर भाग भी जा सकता था। यह तो सामने वाले की करुणा है क्योंकि उसने कहा कि आप बड़े कृपालु हैं।

अब यह जो बात सारे जगत में पहुँची तो समझना बहुत मुश्किल हो गया कि सारा मामला क्या है। लेकिन चीजों के अपने आन्तरिक नियम हैं। चीजों का आन्तरिक ताओ है। अब यह जरूरी नहीं कि आप जब मुझसे प्रश्न पूछने आवें तो सचमुच प्रश्न ही पूछने आवें। और यह जरूरी नहीं है कि आपको उत्तर की ही जरूरत है। और यह भी जरूरी नहीं है कि जो आपने पूछा है वही आप पूछने आए थे। और यह भी जरूरी नहीं है कि जो आपने पूछा है वह आप पूछना ही चाहते हैं। क्योंकि आपके पास भी बहुत चेहरे हैं। आप कुछ पूछना तय करके चलते हैं। कुछ रास्ते में हो जाता है। कुछ आप आकर पूछते हैं। अब मेरे पास कई लोग आते हैं। अगर मैं उनका दो मिनट

प्रश्न छोड़ जाऊँ और दूसरी बात करूँ, फिर दोबारा वे घंटे भर बैठे रहेंगे और वे प्रश्न नहीं पूछेंगे। फिर जो आदमी एक प्रश्न पूछने आया था मैंने उससे पूछा—कैसे हो, ठीक हो! बस उसका प्रश्न गया। तो उसका यह प्रश्न कितना गहरा हो सकता है! इसके कितने मूल्य हो सकते हैं। इस आदमी के व्यक्तित्व को कितनी इसकी जरूरत हो सकती है! लेकिन वह ऐसे ही था जैसे बहुत जरूरी था इसका पूछना। जैसे इसके बिना पूछे वह जी न सकेगा। तो ताओ की अपनी एक बुद्धिमत्ता है, जो सीधा, डाइरेक्ट ऐक्शन में है। और कुछ कहा नहीं जा सकता है कि ताओ में फिर आदमी क्या करेगा। हो सकता है चुप रह जाय।

लाओत्से घूमने जाता है। एक मित्र साथ हैं। वे दो घंटे घूमते हैं पहाड़ों पर, फिर लौट आते हैं। फिर एक मेहमान आया हुआ है। वह मित्र उसको लाता है और कहता है कि यह हमारा मेहमान है। आज ये भी चलेंगे। वे दोनों चुप खड़े हैं। लाओत्से चुप है। साथी चुप है। वह मेहमान भी चुप है। रास्ते में सूरज उगा तब इतना ही मेहमान कहता है कि कितनी अच्छी सुबह है। तब लाओत्से बहुत गुस्से से उस अपने मित्र की तरफ देखता है जो इस मेहमान को ले आया था। वह मित्र घबड़ा जाता है और मेहमान तो और भी घबड़ा जाता है कि ऐसी तो मैंने कोई बुरी बात ही नहीं कही है और घंटा भर हो गया चुप रहते। मैंने कहा कि कितनी अच्छी सुबह है। फिर वे लौट आते हैं। घंटा और बीत जाता है। दरवाजे पर लाओत्से उस मित्र से कहता है कि इस आदमी को दोबारा मत लाना। यह बहुत बकवासी मालूम होता है। मेहमान कहता है कि मैंने तो कोई बकवास नहीं की। सिर्फ इतना ही कहा कि कितनी अच्छी सुबह है। लाओत्से कहता है, सुबह हमको भी दिखाई पड़ रही है। यह निपट बकवास है। जो बात सबको दिखाई पड़ रही हो उसको कहने की क्या जरूरत है? और जो बात नहीं कहनी तुम वह कह सकते हो। तुम ठीक आदमी नहीं हो। कल से मत आना।

अब यह बात जरा सोचने-जैसी है। असल में जब आप सुबह देखकर कहते हैं कितनी अच्छी सुबह है तब सच में आपको सुबह से कोई मतलब नहीं होता है। आप सिर्फ एक चर्चा शुरू करना चाहते हैं। सुबह तो हम सबको दिखाई पड़ रही है। सुबह सुन्दर है, तो चुप रहिए। आदमी सिर्फ खूंटी खोजता है। तो लाओत्सो पूरी तरह पकड़ लेता है। वह कहता है यह आदमी

बकवासी है। इसने शुरुआत की। हम जरा ठीक आदमी नहीं थे नहीं तो शुरू हो गया होता। इसने ट्रेन तो चला दी। यह तो दो आदमियों ने सहयोग नहीं दिया इसलिए यह वेचारा चुप हो गया। इसने खूंटी गाड़ दी थी। यह और सामान भी टाँगता खूँटी के साथ। अब यह इतनी सी बात कि सुबह सुन्दर है, एक बकवासी के चित्त का सावूत हो सकता है। इससे ज्यादा उसने कुछ कहा ही नहीं है। हमें लगता है कि लाओत्से ज्यादती कर रहा है। लेकिन मुझे नहीं लगता। वह ठीक ही कहता है। क्योंकि ताओ जो है उसकी अपनी बुद्धिमत्ता है। वह दर्पण की तरह है। उसे चीजें जैसी हैं, वैसी दिख जाती हैं। तो उसने पकड़ा इस आदमी को कि यह घंटे भर से वेचैन था। इसने कई तरकीबें लगाई, लेकिन दो आदमी बिलकुल चुप थे। लाओत्से ने कहा, यह आदमी बिलकुल बकवासी है। इसने बीज तो बो दिया था। फसल तो हमने बचाई थी।

तो ताओ का एक अपना दर्पण है जिसमें चीजें कैसी दिखाई पड़ेंगी, यह सीधी चीजों को देखकर हम नहीं जानते। और चूँकि उसके पास अपना कोई बँधा हुआ उत्तर नहीं है इसलिए बड़ी मुक्ति है। चूँकि कोई रेडिमेड बात नहीं है, इसलिए चीजें सरल और सीधी हैं। और जाल कुछ भी नहीं है, लेकिन यह स्थिति पर खड़े होने की सारी बात है। जिसे मैं ध्यान कह रहा हूँ उसको ताओ कहें तो कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं किसी भी व्यक्ति के निकट अपने को मालूम करता हूँ तो वह लाओत्से के। वह शुद्धतम है। उसने कभी जिन्दगी में किताब नहीं लिखी। कितने लोगों ने कहा कि लिखो, लिखो। फिर आखरी वक्त में वह देश छोड़कर जा रहा था। तब उसे चौकी पर राजा ने पकड़वा लिया और उसको कहा कि कर्ज चुका जाओ। ऐसे नहीं जाना है। उसने कहा, चुंगी भरने के लिए तो मेरे पास कुछ है ही नहीं। टैक्स में किस बात का दूं? तो जो टैक्स कलेक्टर है उसने कहा, तुम्हारे सिर में जो है वह लिख जाओ, ऐसे हम तुम्हें जाने नहीं देंगे। तुम्हारे पास बहुत सम्पदा है और तुम भागे जा रहे हो। तब उसने एक छोटी-सी किताब लिखी—एताओ तेहंग। यह अद्भुत किताब है। क्योंकि कम ही ऐसे लोग हैं जो लिखते वक्त यह कहें कि जो मैं कहने जा रहा हूँ वह कहा नहीं जा सकेगा और जो मैं कहूँगा वह सत्य हो ही नहीं सकता। जो मैं कहूँगा असत्य हो जायगा, क्योंकि कहते ही चीजें असत्य हो जाती है।

जेन की जो पैदाइश है वह ताओ और बुद्ध, लाओत्से और बुद्ध दोनों की क्रॉस ब्रीड है। इसलिए जेन का कोई मुकाबला नहीं है। जेन अकेला बुद्धिज्म नहीं है। हिन्दुस्तान से बौद्ध भिक्षु ध्यान की प्रक्रिया को लेकर गए। लेकिन हिन्दुस्तान के पास ताओ की पूरी दृष्टि न थी, पूरा फैलाव न था। ध्यान की प्रक्रिया थी जो स्वभाव में थिर कर देती थी। लेकिन स्वभाव में थिर होने की पूरी की पूरी व्यापक कल्पना हिन्दुस्तान के पास न थी। वह लाओत्से के पास थी। जब हिन्दुस्तान से बौद्ध भिक्षु ध्यान को लेकर चीन गए और वहाँ जाकर ताओ की पूरी फिलासफी, पूरी दृष्टि उनके खयाल में आई तो जेन और ताओ दोनों एक हो गए। ध्यान और ताओ एक हो गए। इनसे जो पैदाइश हुई वह जेन है। इसलिए जेन न तो बुद्ध है, न लाओत्से है। जेन बहुत ही अलग बात है। इसलिए आज जेन की जगत में जो खूबी है वह किसी और बात की नहीं है। उसका कारण है कि दुनिया की दो अद्भूत कीमती बातें बुद्ध और लाओत्से दोनों से पैदा हुई बातें हैं। इतनी बड़ी दो हस्तियों के मिलन से कोई भी दूसरी बात पैदा नहीं हुई। उसमें ताओ का पूरा फैलाव है और ध्यान की पूरी गहराई है। कठिन तो है, और सरल भी है। कठिन इसलिए है कि हमारे सोचने के जो ढाँचे हैं उनसे बिलकुल प्रतिकूल है और सरल इसलिए है कि स्वभाव सरल ही हो सकता है। इसमें कुछ कठिन होने की बात ही नहीं है।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

मनुष्य के जीवन में या जगत के अस्तित्व में एक बहुत रहस्यपूर्ण बात है। जीवन को अगर हम खोजेंगे तो पायेंगे कि जीवन तीन इकाइयों पर खंडित हो जाता है। अस्तित्व को खोजने जायेंगे तो अस्तित्व भी तीन इकाइयों पर खंडित हो जाता है। तीन की संख्या बहुत रहस्यपूर्ण है। जबतक धार्मिक लोग तीन की संख्या की बात करते थे तबतक तो हँसा जा सकता था, लेकिन अब वैज्ञानिक भी तीन के रहस्य को स्वीकार करते हैं। पदार्थ को तोड़ने के बाद अणु के विस्फोट पर एटामिक एनालिसिस से एक बहुत अद्भुत बात पता लगी है, और वह यह है कि अस्तित्व जिस ऊर्जा से निर्मित है उस ऊर्जा के तीन

भाग है—न्यूट्रान, प्रोट्रान, इलेक्ट्रान। एक ही विद्युत् तीन रूपों में विभाजित होकर सारे जगत का निर्माण करती है। मैं एक शिव के मंदिर में कुछ दिन पहले गया था और उस मंदिर के पुजारी से मैंने पूछा कि यह शिव के पास जो त्रिशूल रखा है, इसका क्या प्रयोजन है। उस पुजारी ने कहा, 'शिव के पास त्रिशूल होता ही नहीं प्रयोजन की कोई बात नहीं है।' लेकिन वह त्रिशूल बहुत पहले कुछ मनुष्यों की सूझ का परिणाम है। वह तीन का सूचक है। हजारों मंदिर इस जगत में है और हजारों तरह से उस तीन के आँकड़े को पकड़ने की कोशिश की गई है। ईसाई अस्तित्व को तीन हिस्से में तोड़ देते है, आत्मा, परमात्मा और ध्वनिगोष्ठ, और हमने त्रिमूर्तियाँ देखी है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। यह बड़े मजे की बात है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीनों वही काम करते हैं जो न्यूट्रान. प्रोट्रान और इलेक्ट्रान करते है। ब्रह्म सृजनात्मक शक्ति है, विष्णु संरक्षण-शक्ति है और शंकर विध्वंस-शक्ति है। ये तीनों के आँकड़े मनुष्य के जीवन में बहुत द्वारों से पहचाने गए है। परमात्मा और परम अनुभूति को जिन्होने जाना है, वह सत्, चित्, आनंद है। जिन्होने मनुष्य-जीवन की गहराइयाँ खोजी है वे सत्यं, शिवं, सुन्दरम्—इन तीन टुकड़ों मे मनुष्य के व्यक्तित्व को बाँटते है।

मनुष्य का पूरा गणित तीन का विस्तार है। शायद ही आपने कभी सोचा हो कि मनुष्य ने नौ की संख्या तक ही सारी संख्याओं को क्यों सीमित किया। हमारी सारी संख्या नौ का ही विस्तार है और नौ, तीन और तीन के गुणनफल से उपलब्ध होता है। बड़े आश्चर्य की बात है कि हम नौ के टुकड़े को गुणनफल करते जायँ तो जो भी आँकड़े होंगे, उनका जोड़ सदा नौ होगा। अगर हम नौ का दुगुना करें अठारह तो आठ और एक नौ हो जायगा। अगर तीन गुना करें २७, तो सात और दो ९ हो जायगा। हम अरबों खरबों का भी जोड़ करें तो भी जो आँकड़े होंगे उनका जोड़ सदा ९ होगा। शून्य अस्तित्व है जो पकड़ के बाहर है और जब अस्तित्व तीन में टूटता है तो पहली बार पकड़ के भीतर आता है। जब अस्तित्व तीन से तिगुना हो जाता है तो पहली दफा आँखों के लिए सत्य होता है। और जब तीन के आँकड़े बढ़ते चले जाते है तो अनन्त विस्तार होना दिखाई पड़ने लगता है। मनुष्य के व्यक्तित्व पर भी ये तीन की परिधियाँ खयाल करने-जैसी हैं। सत्यं मनुष्य की अन्तरतम, आन्तरिक, इनर-मोस्ट केन्द्र है। सत्यं का अर्थ है, मनुष्य, जैसा है अपने में, जान ले। सत्यं

मनुष्य के स्वयं से सम्वन्धित होने की घटना है। सुन्दरम् सत्यं के बाद की परिधि है। मनुष्य प्रकृति से सम्वन्धित हो जायगा, अपने से नहीं। मनुष्य प्रकृति से सम्वन्ध जोड़ ले तो सुन्दरम् की घटना घटती है। शिवं मनुष्य की सबसे बाहर की परिधि है। शिवं का मतलब है दूसरे मनुष्यों से सम्वन्ध। शिव है समाज से सम्वन्ध, सुन्दरम् है प्रकृति से सम्वन्ध, सत्यं है स्वयं से सम्बन्ध। हमारे बाहर प्रकृति का एक जगत है। हमारे बाहर मनुष्यों का एक जगत है और हम हैं। तो मनुष्य के विन्दु पर अगर हम तीन वर्तुल बनावें, तो पहला निकटतम जो सर्किल है वह सत्यं का है, दूसरा जो सर्किल है वह सुन्दरम् का है, प्रकृति से सम्वन्धित होने का, और तीसरा जो सर्किल है वह शिवं का है। वह मनुष्य का मनुष्य से सम्वन्धित होने का वर्तुल है। शिवं सबसे ऊपरी व्यवस्था है इसलिए समाज की दृष्टि में शिवं सबसे महत्त्वपूर्ण है। समाज नीति से ज्यादा धर्म के सम्वन्ध में विचार नहीं करता। समाज के लिए बात समाप्त हो जाती है। अगर आप दूसरे के लिए अच्छे हैं तो समाज की बात समाप्त हो जाती है। समाज इससे ज्यादा आपसे माँग नहीं करता। समाज कहता है, दूसरे के साथ व्यवहार अच्छा है तो हमारा काम पूरा हो गया। इसलिए समाज सिर्फ नीति से चल सकता है। समाज को धर्म और दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है। समाज का काम नीति पर पूरा हो जाता है। समाज को इसकी चिन्ता नहीं है कि व्यक्ति प्रकृति के साथ भी अच्छा हो। समाज को इसकी भी चिन्ता नहीं है कि व्यक्ति अपने साथ भी अच्छा हो। समाज को इसकी भी चिन्ता नहीं है कि व्यक्ति अपने भीतर सत्य को उपलब्ध हो। इसकी भी चिन्ता नहीं है कि चाँद-तारों से उसके सौन्दर्य के सम्वन्ध बनें। उसकी सिर्फ एक चिन्ता है कि मनुष्यों के साथ उसके सम्वन्ध शुभ हों। इसलिए समाज शिव पर सारा जोर डालता है और जो लोग अपने जीवन में शिव को पूरा कर लेते हैं, समाज उनको महात्मा तथा साधु का आदर देता है। लेकिन अस्तित्व की गहराइयों में शिवं सबसे कम गहरी चीज है, सबसे उथली चीज है। इसलिए साधु अक्सर गहरे व्यक्ति नहीं होते। साधुओं से कहीं ज्यादा गहरे कवि और चित्रकार ही होते हैं। साधुओं से तो वह भी ज्यादा गहरा होता है जिसने चाँद-तारों से अपना कोई सम्वन्ध जोड़ लिया है। असल में जो चाँद-तारों से अपना सम्बन्ध जोड़ पाता है वह मनुष्य से तो जोड़ ही लेता है, इसमें कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन जो मनुष्य से सम्बन्ध जोड़ता

है, जरूरी नहीं है कि वह चाँद-तारों से भी जोड़ पाये।

जिसकी सुन्दरम् की प्रतीति गहरी है वह शिवं को तो उपलब्ध हो जाता है। जिसने ब्यूटीफुल को खोज लिया है वह गुडनेस को तो उपलब्ध हो जाता है। क्योंकि गुडनेस अपने आप में बड़ी से बड़ी सौन्दर्य की अनुभूति है। जिसने सुन्दरम् को खोज लिया वह इतनी कुरूपता भी बर्दाश्त नहीं कर सकता कि बुरा हो सके। बुरा होना एक कुरूपता है, एक अग्लीनेस है। लेकिन जिसने शिव को साधा है, असुन्दर हो सकता है और उसे सौन्दर्य में भी चुनाव करना पड़ता है। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने एक सुझाव रखा था कि खजुराहो, कोणार्क और पुरी के मन्दिरों को मिट्टी में दबा दिए जाने चाहिए, क्योंकि उन मन्दिरों पर जो मूर्तियाँ हैं वे शुभ नहीं हैं, शिव नहीं हैं, केवल सुन्दरम् हैं। लेकिन गुडनेस से उनका सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता है। खजुराहो की दीवालों पर जो चित्र हैं, जो नग्न सुन्दर स्त्रियों की प्रतिमाएँ हैं, पुरुषोत्तमदास टण्डन का खयाल था, उन्हें मिट्टी में दबा देना चाहिए और गाँधी जी भी उनके इस विचार से सहमत हो गए थे। अगर रवीन्द्रनाथ ने बाधा न डाली होती तो हिन्दुस्तान की सबसे कीमती सम्पत्ति मिट्टी में दबा दी जा सकती थी। रवीन्द्रनाथ तो हैरान हो गए थे यह सुनकर कि कोई ऐसा सुझाव देगा। लेकिन टंडन शिव के आदमी थे। ऐसा सौन्दर्य उनके बर्दाश्त के बाहर था जिससे किसी के मन में अशुभ पैदा हो सके। वे ऐसी कुरूपता को भी पसन्द कर लेंगे जो शुभ की दिशा में ले जाती हो। इसलिए जिन देशों में साधुओं का बहुत प्रभाव है उन देशों में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा कम हो जाती है। हमारा ही एक ऐसा अभागा मुल्क है। इस मुल्क में सौन्दर्य की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। सौन्दर्य अपमानित है, निन्दित है। काउन्ट कैसरलेन हिन्दुस्तान से जर्मनी वापस लौटा तो उसने वहाँ जाकर लिखा कि मैं हिन्दुस्तान से यह समझ कर आया हूँ कि कुरूप होना भी एक आध्यात्मिक योग्यता है और बीमार होना भी आध्यात्मिक गुण है, और गन्दा होना भी साधना की अनिवार्य शर्त है। जैन साधु स्नान नहीं करेंगे। पसीने की जितनी दुर्गन्ध आवे, उतनी गहरी साधना का सबूत मिलता है। दातुन नहीं करेंगे। मुँह पास ले जायँ और आपको घबड़ाहट मालूम हो तो समझना चाहिए कि दूसरी तरफ जो आदमी है वह साधु है।

हिन्दुस्तान ने शिव की बहुत प्रतिष्ठा की और इस प्रतिष्ठा ने सौन्दर्य को घातक नुकसान पहुँचाया। मेरी दृष्टि में गाँधी शिव के अन्यतम प्रतीक हैं,

लेकिन शिव मनुष्य की पहली परिधि है। बहुत गहरी नहीं है, पहली सीढ़ी है। जब हम इस विराट जीवन को मनुष्य के ही समाज में केन्द्रित कर देते हैं तो जगत और जीवन बहुत संकीर्ण हो जाता है। स्वभावतः जो सिर्फ शिव की ही साधना करेगा, उसके पाखंडी हो जाने का खतरा है। जरूरी नहीं है कि वह पाखंडी हो जाय, लेकिन उसका खतरा है क्योंकि वह बहुत ऊपर से जीवन को पकड़ने की कोशिश में लगा है। उसने जिन्दगी को जड़ों से नहीं पकड़ा है, उसने जिन्दगी को फूलों से पकड़ने की कोशिश की है। उसने जिन्दगी की बाहरी परिधि को लीपने-पोतने की कोशिश की है। वह चरित्र को ठीक करेगा, वह पानी छान कर पीएगा, वह यह करना ठीक है या नहीं है, ऐसा होना ठीक है या नहीं ठीक है, यह सब सोचेगा, लेकिन इस सारे सोच में वह जीएगा परिधि पर, गहराई में नहीं जी सकेगा। गाँधी मेरे लिए शुभ के श्रेष्ठतम प्रतीक हैं। अगर कोई विकृत हो जाय तो हिटलर–जैसा आदमी पैदा होगा और अगर कोई स्वीकृत हो जाय तो गाँधी–जैसा आदमी पैदा होगा। यह एक ही परिधि पर खड़े लोग हैं। आपको यह जानकर हैरानी होगी कि हिटलर सिगरेट नहीं पीता था, मांस नहीं खाता था, नियम से सोता था और ब्रह्म मुहूर्त में उठता था। वह अविवाहित था। उसके जीवन में समझा जाय तो साधु के सब लक्षण पूरे थे, लेकिन उससे ज्यादा असाधु आदमी इस पृथ्वी पर दूसरा पैदा नहीं हुआ। अगर हिटलर थोड़ी सिगरेट पी लेता और थोड़ी शराब पी लेता और थोड़ा मांस खा लेता तो मैं समझता हूँ दुनियाँ का उतना नुकसान न होता, जितना हुआ है। अगर वह किसी एकाध स्त्री से प्रेम कर लेता या पड़ोस की औरतों से लुक-छिपकर थोड़ी बात कर लेता तो भी दुनिया का इतना बड़ा नुकसान न होता जितना हुआ है। वह आदमी सब तरफ से बंद हो गया था। सब तरफ से जो जबरदस्ती शुभ होने की कोशिश करेगा उसका अशुभ किसी और मार्ग से प्रकट होना शुरू हो जायगा और बहुत बड़े पैमाने पर प्रकट होगा। इसलिए अक्सर ऐसा होता है कि जो लोग ऊपर से अहिंसा साध लेते हैं, उनकी आँखें, उनकी नाकें, सबसे अहिंसा की जगह हिंसा झरने लगती हैं। जो लोग ब्रह्मचर्य साध लेते हैं उन्हें चौबीस घंटे सेक्स पीछा करने लगता है। आपको पता होगा कि उपवास करने पर दिन भर भोजन के अतिरिक्त और कोई खयाल नहीं आता और रात सिवा भोजन के कोई सपना नहीं आता।

शुभ को अगर कोई आग्रहपूर्वक जबरदस्ती थोप लेगा, तो शुभ तो नहीं

सधेगा, सिर्फ पाखंड होगा और विकृतियाँ पैदा होंगी। लेकिन अगर कोई शुभ को पूरे मानपूर्वक साध ले तो पाखंड तो पैदा नहीं होता, चरित्र पैदा हो जाता है। शुभ चरित्र पैदा हो जाता है, लेकिन होता है परिधि पर, बहुत गहरे नहीं होता।

दूसरी परिधि सौन्दर्य की है। आचरण शिव की परिधि है और सौन्दर्य की हमारी जो अनुभूति है, हमारे भीतर, सुन्दर की जो भावदशा है, सुन्दर को ग्रहण करने की जो ग्राहकता है, वह दूसरी परिधि है। गाँधी को मैं पहली परिधि का प्रतीक मानता हूँ, सफल प्रतीक पुरुष। हिटलर को मैं पहली परिधि का असफल प्रतीक पुरुष मानता हूँ। रवीन्द्रनाथ को मैं दूसरी परिधि का सफल प्रतीक पुरुष मानता हूँ। उनके जीवन में सौन्दर्य सब कुछ है। मैंने एक घटना सुनी है। गाँधी रवीन्द्रनाथ के घर में मेहमान हैं। साँझ घूमने निकल रहे थे तो उन्होंने पूछा—क्या आप भी चलेंगे? रवीन्द्रनाथ ने कहा, रुकिए, मैं थोड़ा बाल सँवार लूं। गाँधी की समझ के बाहर हो गया। स्वाभाविक है। इस बुढ़ापे में बाल सँवारने की बात बेहूदी मालूम पड़ सकती है, किसी भी साधु को पड़ेगी। लेकिन कोई और होता तो गाँधी ने तत्काल उससे कुछ कहा होता। रवीन्द्रनाथ से कुछ कहना भी कठिन था। चुपचाप खड़े रह गए। उनके कहने में भी विरोध था और उनके चुप रहने में भी विरोध था। रवीन्द्रनाथ भीतर गए और पाँच मिनट बीत गए, दस मिनट बीत गए, नहीं लौटे। तो गाँधी के बर्दाश्त के बाहर हो गया। उन्होंने भीतर झाँककर देखा, आदम कद आइने के सामने रवीन्द्रनाथ खड़े थे! इस बुढ़ापे में सब सफेद हो गए बालों को सँवारते थे और मंत्रमुग्ध ऐसे थे जैसे भूल गए थे। गाँधी ने कहा, क्या कर रहे हैं आप? इस उम्र में बालों को सँवारने की इतनी फिक्र? रवीन्द्रनाथ मुड़े। उनका चेहरा जैसे समाधिस्थ था। उन्होंने कहा, जब जवान था, बिना सँवारे चल जाता था। जबसे बूढ़ा हो गया हूँ तबसे बहुत सँवारना पड़ता है। रात्रि में बात हुई तो रवीन्द्रनाथ ने कहा कि मैं अक्सर सोचता हूँ कि किसी को अगर मैं कुरूप दिखाई पड़ूँ तो मैं उसको दुख दे रहा हूँ, और दुख देना हिंसा है। किसी को मैं सुन्दर दिखाई पड़ूँ तो उसे मैं सुख दे रहा हूँ, सुख देना अहिंसा है। शायद ही किसी ने सोचा हो कि सौन्दर्य में अहिंसा हो सकती है। रवीन्द्रनाथ कह रहे हैं कि मेरी नैतिकता मुझसे कहती है कि मैं सुन्दर दिखाई पड़ता रहूँ। अंतिम क्षण तक प्रभु से एक ही प्रार्थना है कि मैं कुरूप न हो जाऊँ। और यह

हैरानी की बात है कि रवीन्द्रनाथ, जैसे-जैसे बूढ़े होते गए वैसे-वैसे सुन्दर होते गए। मरते वक्त बहुत कम लोग इतने सुन्दर होते हैं जितने रवीन्द्रनाथ थे और रवीन्द्रनाथ को मरते वक्त देखकर कोई कह सकता था कि जैसे हिमालय के शिखर पर बर्फ आ जाय ऐसे उनके चेहरे पर वह जो बुढ़ापे की सफेदी और सफेद बाल आ गए थे उन्होंने जैसे श्वेत हिम से उन्हें ढँक लिया हो। वे जैसे गौरीशंकर हो गए थे। रवीन्द्रनाथ के मन में सौन्दर्य की बड़ी गहरी पकड़ थी इतनी गहरी पकड़ कि शुभ को भी वे सुन्दर का ही एक रूप समझते थे, अशुभ को असुन्दर का एक रूप समझते थे। बुरा आदमी इसलिए बुरा नहीं है कि बुरा काम करता है, बुरा आदमी इसलिए बुरा है कि बुरा आदमी कुरूप है और बुरे आदमियों का बुरा काम भी इसलिए बुरा है कि बुरे काम के परिणाम कुरूप हैं। अगर साधु भी कुरूपता पैदा कर रहा है जीवन में, तो रवीन्द्रनाथ का विरोध है। सौन्दर्य की जिनके जीवन में थोड़ी सी प्रतीति होगी वे मनुष्य के जगत के पार जो बड़ा जगत है, उसमें प्रवेश कर जाते हैं। साधारणतः हम मनुष्य की दुनियाँ में ही जीते हैं। सच तो यह है कि हम मनुष्य की दुनियाँ में भी पूरी तरह नहीं जीते हैं, वहाँ भी अधूरे जीते हैं। मनुष्य के पार पत्थर भी है, वृक्ष भी है, पहाड़ भी है, चाँद-तारे भी हैं, आकाश भी है। यह इतना विराट चारों तरफ फैला है, इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। अभी लन्दन में एक सर्वे किया जा रहा था स्कूल के बच्चों का। दस लाख बच्चों ने कहा कि उन्होंने गाय नहीं देखी है। सात लाख बच्चों ने कहा कि उन्होंने खेत नहीं देखा है। अब जिन बच्चों ने गाय नहीं देखी, खेत नहीं देखा, एक अर्थ में जगत से बुरी तरह टूट गए हैं। इनका जगत से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इनका सम्बन्ध सिर्फ मानवीय जगत से है। आज मैं एक किताब पढ़ रहा था। उस किताब के लेखक ने यह सुझाव दिया है कि चूँकि जमीन छोटी हो गई है और जमीन पर रहने वाले लोग ज्यादा हो गए हैं इसलिए अब हमें जमीन के नीचे रहने का इन्तजाम कर लेना चाहिए, और धीरे-धीरे मनुष्य को उस जमीन के नीचे रहने के लिए राजी कर लेना चाहिए। वह ठीक कह रहा है। अगर मनुष्यता इसी तरह बढ़ती गई तो आदमी को जमीन के नीचे रहना पड़ेगा। तब शायद हो सकता है, सूरज से भी हमारा कोई सम्बन्ध न रहे, चाँद-तारों से भी हमारा कोई सम्बन्ध न रहे। तब हम प्रकृति से पूरी तरह टूट जायेंगे और आदमी या उसके द्वारा बनायी गई चीजें कारखाने,

मशीनें, मकान, या आदमी की दुनियाँ रह जायँगी। आदमी की दुनिया इस विराट दुनियाँ का बड़ा छोटा हिस्सा है। अगर हम पूरी दुनिया को खयाल में लें तो यह कोई हिस्सा ही नहीं है। अगर हम पूरे जगत के विस्तार को सोचें तो आदमी क्या है, वह कुछ भी नहीं है। उसकी यह पृथ्वी क्या है, वह भी कुछ नहीं है। उसका यह सूरज भी क्या है, वह भी कुछ नहीं है। हम जगत के नगण्य हिस्से हैं। उस नगण्य हिस्से में आदमी की दुनियाँ नगण्य है। उस नगण्य आदमी की दुनियाँ में दस-पचास आदमियों के बीच एक आदमी सम्बन्धित होकर जी लेता है। स्वभावत: इसके अस्तित्व में बहुत गहराई नहीं पैदा हो सकती है। फिर एक और समझ लेने की बात है कि मनुष्य के साथ हमारे जो भी सम्बन्ध हैं वे अपेक्षाओं के सम्बन्ध हैं। इसलिए वे पूर्ण रूप से सुन्दर नहीं हो सकते। जहाँ अपेक्षा है वहाँ कुरूपता प्रवेश कर जाती है। मनुष्य से हमारे जो संबंध हैं वे माँग और पूर्ति के संबंध हैं। हम एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं कुछ शर्तों के साथ। जब आदमी जगत के सौन्दर्य से सम्बन्धित होता है तो पहली दफा बेशर्त सम्बन्ध होता है, और जब हम बेशर्त होते हैं तो सम्बन्धों की गहराई और ही हो जाती है। सौन्दर्य के सम्बन्ध मनुष्य को गहरे ले जाते हैं। संसार में कवि, चित्रकार, नृत्यकार, मूर्तिकार, संगीतज्ञ, सौन्दर्य के स्रष्टा और सौन्दर्य के भाव को जानने वाले लोग हैं, लेकिन साधुओं के प्रभाव के कारण काव्य-सौन्दर्य और संगीत हमारे जीवन में गहरा प्रवेश नहीं कर पाया। साधुओं को सदा इस बात का डर रहा है कि सौन्दर्य लोगों को अनीति में ले जाता है जबकि सच्चाई यह है कि अगर सौन्दर्य का बोध बढ़ जाय तभी आदमी वस्तुत: नैतिक हो पाता है अन्यथा नैतिक नहीं हो पाता। सौन्दर्य का जितना गहरा बोध होता है उतना आदमी संवेदनशील हो जाता है और जितना संवेदनशील हो जाता है उतना अनैतिक होना कठिन हो जाता है। सौन्दर्य के बोध की कमी ही अनीति में ले जाती है। एक आदमी रुपए से प्रेम खरीदने की बात सोच सकता है, यह बताती है कि उसके पास कोई आन्तरिक गहराई का अस्तित्व नहीं है।

सौन्दर्य का बोध दूसरी गहरी परिधि है, जो मनुष्य को जगत से ऊपर उठाती है और विराट से जोड़ती है। रवीन्द्रनाथ मुझे दूसरे प्रतीक मालूम होते हैं। जरूरी नहीं है कि दूसरी परिधि पर जो है वह जरूरी रूप से शिव भी हो, शुभ भी हो; लेकिन बहुत सम्भावना है उसके शिव और शुभ होने की।

पहली परिधि के आदमी के लिए जरूरी नहीं है कि वह सिर्फ शुभ ही हो और सुन्दर का उसे बोध न हो। लेकिन उसके सौन्दर्य के बोध की कठिनाई ज्यादा है।

तीसरी परिधि है सत्य की, जहाँ व्यक्ति बाहर से नहीं, स्वयं से, अन्तः से सम्बन्धित होता है। सत्यं तीसरा बिन्दु है जिसके प्रतीक अरविन्द हैं। जिनकी सारी खोज भीतर और भीतर, और भीतर, यह कौन है इसे जानने की खोज है। जो व्यक्ति सत्यं को उपलब्ध होता है उसके लिए शिवं और सुन्दरम् सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। इसलिए अरविन्द आचरण के सम्बन्ध में बहुत अदभुत हैं। गाँधी से पीछे नहीं हैं। वे सावित्री लिखकर बता सके हैं कि सौन्दर्य के बोध में रवीन्द्र से वे पीछे नहीं हैं। अगर अरविन्द को कविता के ऊपर नोबल प्राइज नहीं मिला तो उसका कारण यह नहीं है कि अरविन्द की कविता रवीन्द्र से पिछड़ी हुई है। उसका कारण यह है कि नोबल प्राइज बाँटने वाले लोगों के दिमाग सावित्री को समझने में असमर्थ हैं। ये तीन व्यक्ति मैं मौजूदा जिन्दगी से ले रहा हूँ ताकि बात हमें साफ हो सके। लेकिन तीनों में से कोई भी मुक्त नहीं हो सकता है—न गाँधी, न रवीन्द्र, न अरविन्द। क्योंकि ये तीनों अस्तित्व की बातें हैं। मुक्ति इसके पार शुरू होती है। अगर कोई आचरण पर रुक गया तो भी बंध जाता है, अगर कोई सौन्दर्य पर रुक गया है तो भी बँध जाता है, अगर कोई स्वयं पर रुक गया है तो भी बँध जाता है। पहला बंधन जरा दूर है, दूसरा बंधन जरा निकट है, तीसरा बंधन अति निकट है। लेकिन तीनों ही बंधन हैं। अगर कोई व्यक्ति स्वयं के भीतर ही रुक गया तो भी रुक गया। क्योंकि स्वयं के पार भी सर्व की सत्ता है। चरित्र पर रुक जाऊँ तो सामाजिक अंश बन कर रह जाता हूँ, प्रकृति पर रुक जाऊँ तो प्रकृति का अंश बनकर रह जाता हूँ, अपने पर रुक जाऊँ तो चेतना का अंश होकर रह जाता हूँ। लेकिन सर्वात्मा का अंश नहीं बन पाता हूँ। इन तीनों के पास जो होता है वही मुक्ति में प्रवेश करता है, वही फ्रीडम में, टोटल फ्रीडम में प्रवेश करता है।

सत्यं, शिवं और सुन्दरम् मनुष्य की तीन भाव-दशाएँ हैं। जब तीनों भाव-दशाओं के कोई पार होता है तो निर्भाव हो जाता है। तब वह मन के पार चला जाता है। समाधि तीनों के पार हो जाने का नाम है। लेकिन तीनों के पार होने के भी ढंग हैं। एक ढंग के प्रतीक रमण हैं और दूसरे ढंग के प्रतीक कृष्णमूर्ति हैं। तीनों के पार होने का एक ढंग तो यह है कि तीनों शान्त हो

जायँ। तीनों में से कोई भी न रह जाय, तीनों विदा हो जायँ। जैसे लहर खो गई सागर में, कोई लहर न बची—न शिवं की, न सुन्दरम् की, न सत्यं की। तीनों शान्त हो गईं। रमण निष्क्रिय समाधि को उपलब्ध होते हैं। तीनों शान्त हो गए हैं। न सत्यं की कोई पकड़ है, न शिवं की कोई पकड़ है, न सुन्दरम् की कोई पकड़ है। तीनों की लहर खो गई हैं। यह निष्क्रिय समाधि है। रमण से यात्रा शुरू होती है मुक्ति की। कृष्णमूर्ति ठीक विपरीत हैं रमण से। चौथी जगह खड़े हैं, लेकिन विपरीत हैं। रमण में तीनों खो गए हैं, कृष्णमूर्ति में तीनों एक हैं, सजग हैं। तीनों समतुल हैं। तीनों की शक्ति बराबर एक है और तीनों एक-से प्रकट हैं। अरविन्द को तो कविता लिखनी पड़ती है, कृष्णमूर्ति जो बोल रहे हैं, वह कविता है; अलग से लिखनी नहीं पड़ती। कृष्णमूर्ति का होना ही कविता है। अरविन्द का तो कोई क्षण काव्य का होगा, कृष्णमूर्ति के लिए पूरा अस्तित्व काव्य है। गाँधी को संयम साधना पड़ता होगा, कृष्णमूर्ति के लिए वह साधना नहीं पड़ता है, वह उनकी छाया है। गाँधी को अहिंसा लानी पड़ती है, कृष्णमूर्ति के लिए अहिंसा आती है। अरविन्द को सत्य को खोजना पड़ता है, कृष्णमूर्ति को सत्य ही खोजता हुआ आ गया है। तीनों समतुल हैं। एक ही शक्ति के हैं। लेकिन रमण और कृष्णमूर्ति में क्या फर्क है ? दोनों एक ही द्वार पर खड़े हैं। एक निष्क्रिय समाधि को उपलब्ध हुआ है, क्योंकि तीनों के पार चला गया है। एक सक्रिय समाधि को उपलब्ध हुआ है क्योंकि तीनों के समन्वय को उपलब्ध हो गया है। दोनों में थोड़ा-सा फर्क है। अन्दर का कोई फर्क नहीं है। लेकिन व्यक्तित्व का बुनियादी फर्क है। रमण की समाधि ऐसी है जैसे बूंद सागर में गिर जाय—बूंद समानी समुन्द में। और कृष्णमूर्ति की समाधि ऐसी है जैसे बूंद में सागर गिर जाय—समुन्द समाना बूंद में। परिणाम में तो एक ही घटना घट जायगी। लेकिन दोनों के व्यक्तित्व भिन्न हैं।

रमण और कृष्णमूर्ति से भी महत्तर व्यक्तित्व हैं। जैसे — बुद्ध, महावीर या क्राइस्ट। बुद्ध, महावीर और क्राइस्ट में रमण और कृष्णमूर्ति संयुक्त रूप से प्रकट हुए हैं, अलग-अलग नहीं हैं। निष्क्रिय और सक्रिय समाधि एक साथ घटित हुई है। महावीर में, बुद्ध में या क्राइस्ट में निषेध और विधेय दोनों एक साथ घटित हुए हैं। महावीर जब बोल रहे हैं तब वे कृष्णमूर्ति-जैसी भाषा बोलते हैं। और महावीर जब चुप हैं तब वे रमण-जैसे चुप हैं। रमण मौन हैं, साइलेंट हैं। कृष्णमूर्ति मुखर हैं, प्रकट हैं। कृष्णमूर्ति में तेजी है, रमण में सब

शान्ति है। अगर महावीर को बोलते हुए कोई देखे तो वे कृष्णमूर्ति-जैसे होंगे। और महावीर को चुप देखे तो वे फिर रमण-जैसे होंगे। बुद्ध और क्राइस्ट भी ऐसे ही व्यक्तित्व हैं। एक तरफ क्राइस्ट इतने शान्त हैं कि सूली पर लटकाए जा रहे हैं तो भी वे परमात्मा से कह रहे हैं कि इन्हें माफ कर देना; क्योंकि इन्हें पता नहीं है कि ये क्या कर रहे हैं। यह रमण की हालत है। क्राइस्ट चर्च में कोड़ा लेकर चला गया है और सूदखोरों को कोड़े मारकर उनके तख्ते उलट दिए हैं और उनको घसीट कर मन्दिर के बाहर निकाल दिया है। वह कृष्ण-मूर्ति के रूप में हैं। मुझे कोई कहता है कि कृष्णमूर्ति इतने चिल्ला कर और इतने गुस्से में क्यों बोलते हैं? जहाँ सिर्फ सक्रिय समाधि होगी वहाँ ऐसी घटना घटेगी। मुझे कोई कहता है कि रमण चुप क्यों बैठे रहते हैं? लोग पूछने जाते हैं और वे चुप ही बैठे रहते हैं। तो मैं उनसे कहता हूँ कि निष्क्रिय समाधि ऐसी ही होगी। वह चुप होकर ही उत्तर दे रहे हैं। बुद्ध, महावीर और जीसस में ये दोनों घटनाएँ एक साथ हैं। बुद्ध, महावीर और जीसस के पास और भी पूर्णतर व्यक्तित्व हैं। लेकिन बुद्ध, महावीर और जीसस में भी पूर्णतर व्यक्तित्व की सम्भावनाएँ हैं और वैसा व्यक्तित्व श्रीकृष्ण के पास है।

बुद्ध, महावीर और जीसस में दोनों चीजों के लिए अलग-अलग क्षण हैं। जब वे निष्क्रिय होते हैं तब वे अलग मालूम पड़ते हैं, जब वे सक्रिय होते हैं तब वे अलग मालूम पड़ते हैं। लेकिन आज तक ईसाई इस बात को हल न कर पाये कि जो जीसस कोड़ा मार सकता है, वह जीसस सूली पर चुपचाप कैसे लटक सकता है! इन दोनों बातों का टाइम अलग-अलग है, बड़ी अलग-अलग है। इसलिए जीसस में बहुत कन्ट्राडिक्शन्स मालूम पड़ते हैं। बुद्ध में भी, महावीर में भी। कृष्ण का व्यक्तित्व और भी पूर्णतर है। वहाँ यह कंट्राडिक्शन ही नहीं है। वहाँ वे दोनों एक साथ हैं। उनके ओंठ पर बाँसुरी और उनकी आँख में क्रोध एक साथ है। उनका वचन कि युद्ध में नहीं उतरूँगा और उनका वचन तोड़ देना और युद्ध में उतर जाना एक साथ है। उनकी यह बात कि करुणा भी धर्म है और उनकी यह बात कि युद्ध में लड़ना भी धर्म है—एक साथ है। कृष्ण के व्यक्तित्व में अलग खंड बाँटना मुश्किल है। वहाँ निष्क्रिय और सक्रिय एक साथ घटित हुआ है। वहाँ निष्क्रिय और सक्रिय का भेद भी गिर गया है। कृष्ण में आध्यात्मिक प्रवेश की आखिरी, अधिकतम योग्यता है।

इसका मतलब यह नहीं है कि रमण या कृष्णमूर्ति जिस मोक्ष में प्रवेश होंगे वह कुछ न्यून क्षमता का होगा। इसका यह भी मतलब नहीं है कि बुद्ध और महावीर जिस मुक्ति में जायँगे उसका आनन्द कृष्ण की मुक्ति से कम होगा। इसका यह मतलब नहीं है कि इन दोनों में कोई छोटा-बड़ा है। इसका कुल मतलब यह है कि तीनों के व्यक्तित्व में भेद हैं। जहाँ ये पहुँचते हैं वह तो एक ही जगह है। लेकिन इन तीनों में बुनियादी फर्क है। रमण और कृष्णमूर्ति के व्यक्तित्व से सत्यं, शिवं, सुन्दरम् होना शुरू हो जाता है।

रमण और कृष्णमूर्ति के नीचे तीन तल हैं, जहाँ कोई शिव को पकड़कर बैठ गया है, जहाँ कोई सुन्दर को पकड़कर बैठ गया है, जहाँ कोई सत्य को पकड़कर बैठ गया है और हम सब तो उन तीनों तल के बाहर ही खड़े रह जाते हैं। एक अर्थ में जबतक हम पहली सीढ़ी पर न खड़े हों तबतक हम मनुष्य होने के अधिकारी नहीं होते। गाँधी जी के साथ मनुष्यता शुरू होती है, अरविन्द के साथ मनुष्यता पूरी होती है। रमण और कृष्णमूर्ति के साथ अति मानव शुरू होता है। कृष्ण के साथ अति मनुष्यता का अन्त होता है। हम कहाँ हैं? हम पशु नहीं हैं, इतना पक्का है। हम आदमी हैं, इसमें सन्देह है। एक बात तय है कि हम जानवर नहीं हैं। दूसरी बात इतनी तय नहीं है कि हम आदमी हैं। क्योंकि जानवर न होना केवल निषेध है। आदमी होना एक विधायक उपलब्धि है। हम जानवर नहीं हैं; प्रकृति वहाँ तक छोड़ देती है और आदमी होने का अवसर देती है कि हम आदमी हो सकें। प्रकृति हमें आदमी की तरह पैदा नहीं करती। अगर प्रकृति हमे आदमी की तरह पैदा कर दे तो फिर हम आदमी कभी भी न हो सकेंगे। क्योंकि आदमी होने का पहला कृत्य चुनाव है। अगर प्रकृति हमें चुनाव का मौका न दे तो फिर हम जानवर ही होंगे। आदमी और जानवर में जो फर्क है वह एक ही है कि जानवर के पास कोई चुनाव नहीं है। कुत्ता पूरा कुत्ता पैदा होता है और आप ऐसा नहीं कह सकते कि यह कुत्ता उस कुत्ते से थोड़ा कम कुत्ता है। ऐसा कहेंगे तो आप पागल मालूम पड़ेंगे। सब कुत्ते बराबर कुत्ते होते हैं। दुबले-पतले हो सकते हैं, मोटे हो सकते हैं, लेकिन कुत्तापन बिलकुल बराबर होगा। पर आप एक आदमी के सम्बन्ध में बिलकुल कह सकते हैं कि यह आदमी थोड़ा कम आदमी है, यह आदमी थोड़ा ज्यादा आदमी है। आदमियत जन्म से नहीं मिलती, इसलिए यह सम्भव है। आदमियत हमारा सृजन है,

आदमियत हम निर्मित करते हैं, आदमियत हमारी उपलब्धि और खोज है, आदमियत हमारा आविष्कार है। लेकिन हम सारे लोग जन्म के साथ यह मान लेते हैं और बड़ी भूल हो जाती है कि हम आदमी हैं। जन्म के साथ कोई भी आदमी नहीं होता। किसी माँ-बाप की हैसियत आदमी पैदा करने की नहीं है। सिर्फ आदमी होने का अवसर पैदा किया जाता है। मजा यह है कि यदि आदमी चाहे तो आदमी हो सकता है, यदि आदमी चाहे तो आदमी के पार हो सकता है, यदि आदमी चाहे तो पशु हो सकता है, यदि आदमी चाहे तो पशु से भी नीचे हो सकता है। अगर हम ठीक से समझें तो आदमियत का मतलब है चुनाव की अनन्त क्षमता। नीचे पशुओं में कोई चुनाव नहीं है। पशु जैसे हैं वैसे होने को मजबूर हैं। अगर एक कुत्ता भूँकता है तो यह उसका चुनाव नहीं है। अगर एक शेर हमला करता है और हिंसा करता है तो यह उसका चुनाव नहीं है। इसलिए किसी शेर को आप हिंसक नहीं कह सकते। क्योंकि जिसकी अहिंसक होने की कोई क्षमता ही नहीं है उसको हिंसक कहने का क्या अर्थ है। इसलिए आप किसी जानवर पर अनैतिक होने का जुर्म नहीं लगा सकते और अपराधी नहीं ठहरा सकते। हम सात साल तक के बच्चे को अपराधी ठहराने का विचार नहीं करते, क्योंकि हम मानते हैं कि अभी वह आदमी कहाँ है। अभी जानवर चल रहा है। इसलिए बच्चे को हम जानवर के साथ गिनते हैं। अभी चुनाव शुरू नहीं हुआ है। लेकिन सात साल तक न हो, यह तो समझ में आता है; फिर सत्तर साल तक न हो, तो समझ में आना बहुत मुश्किल हो जाता है। कुछ आदमी बिना चुनाव किए ही जी लेते हैं। प्रकृति उन्हें जैसा पैदा करती है वैसा जी लेते हैं।

चुनाव मनुष्यता का निर्णायक कदम है। कहाँ से चुनाव करें? शिव से चुनाव करें? सुन्दर से चुनाव करें? सत्य से चुनाव करें? कहाँ से चुनाव करें? साधारणतः दो तरह की बातें रही हैं। एक तो वे लोग हैं, जो कहते हैं, पहले आचरण बदलो फिर और कुछ गहरा बदला जा सकेगा। मैं उनसे राजी नहीं हूँ। मेरी अपनी समझ यह है कि अचरण को अगर बदलने से शुरू किया तो पाखंड का पूरा डर है। इसलिए मैं कहता हूँ, स्वयं को समझने से शुरू करो। सत्य से शुरू करो, गाँधी से शुरू मत करो। अरविन्द से शुरू करो। पहले स्वयं को समझने की चेष्टा से शुरू करो और जिस दिन स्वयं को जान सको उस दिन स्वयं के बाहर जो फैला हुआ विराट है, उसे जानने की

चेष्टा को फैलाओ तो सौन्दर्य जीवन में उठेगा। और जिस दिन इस विराट को जानने की बात भी पूरी हो जाय उस दिन इस विराट के साथ कैसे व्यवहार करना, उसका विस्तार करो तो शिवं ही फैलेगा। सत्य से शुरू करो, सौन्दर्य पर फैलाओ, शिवं पर पूरा करो। साधारणतः आजतक दुनियाँ में जितने धर्म हैं वे कहते हैं शिवं से शुरू करो और सत्य की यात्रा करो। वे कहते हैं आचरण से शुरू करो और आत्मा की तरफ जाओ। मैं आपसे कहता हूँ, आत्मा से शुरू करो और आचरण को आने दो। असल में जो आचरण से शुरू करेगा वह हो सकता है जिन्दगी बहुत फिजूल के श्रम में गँवा दे। गांधीजी ने जिन्दगीभर ब्रह्मचर्य का प्रयोग किया लेकिन अन्तिम क्षण तक तय न कर पाए कि ब्रह्मचर्य उपलब्ध हुआ है या नहीं हुआ है। आचरण से शुरू करने की बड़ी तकलीफ है। महावीर को कभी शक नहीं हुआ, बुद्ध को कभी शक नहीं हुआ। गाँधी को शक हुआ। उसका कारण है, उन्होंने आचरण से ही जीवन को साधा था। बाहर की दीवालें, जीवन की बाहर की परिधि कितनी ही शुभ हो जाय तो भी जरूरी नहीं है कि भीतर जो जी रहा है वह शुभ होगा। लेकिन अगर भीतर जो जी रहा है वह सत्य हो जाय तो जो बाहर है वह अनिवार्य रूप से शुभ हो जाता है।

सारी दुनियाँ में धर्मों ने आदमी में कुछ पैदा न कर पाया, क्योंकि उनकी प्रक्रिया उलटी है। आचरण से शुरू करते हैं और आत्मा तक जाने की बात कहते हैं। आदमी जिन्दगी भर आचरण को सँभालने में नष्ट हो जाता है और कभी तय नहीं कर पाता कि आत्मा को सँभालने का क्षण आया है। अगर मनुष्य जाति को सच में धार्मिक बनाना है तो यात्रा भीतर से शुरू करनी पड़ेगी और बाहर की तरफ फैलना पड़ेगा। मजे की बात यह है कि भीतर से यात्रा करना सरलतम है, क्योंकि जिसे हम बाहर साध-साध कर भी साध नहीं पाते वह भीतर साधना से अपने आप आ जाता है। जैसे कोई आदमी गेहूँ बोता है तो भूसा अपने आप पैदा होता है, भूसे को अलग से पैदा नहीं करना पड़ता है। लेकिन कोई यह सोचे कि जब गेहूँ के साथ भूसा पैदा हो जाता है तो हम भूसा बो दें तो गेहूँ भी पैदा हो जायगा। भूसे के साथ गेहूँ पैदा नहीं होता। भूसा बहुत बाहरी चीज है, गेहूँ बहुत भीतरी चीज है। असल में भूसा गेहूँ के लिए पैदा होता है, उसकी रक्षा के लिए पैदा है। अगर गेहूँ नहीं है तो भूसे के पैदा होने की कोई जरूरत नहीं

होती। जब भीतर सत्य पैदा होता है तो उसके आसपास सौन्दर्य और शिव अपने आप रक्षा के लिए पैदा होते हैं,। असल में जब भीतर सत्य का दीया जल जाता है तो अपने आप शिव का आचरण निर्मित होता है। क्योंकि सत्य के दीए को अशिव आचरण में बचाया नहीं जा सकता। जब भीतर सत्य पैदा हो जाता है तब चारो तरफ जीवन में सौन्दर्य की आभा फैल जाती है, वैसे ही जैसे दीया जलता है तो घर के बाहर रोशनी फैलने लगती है। अगर इस कमरे में दीया जलता हो तो खिड़कियों के बाहर रोशनी फैलने लगेगी। लेकिन आप कहीं सोचें कि खिड़कियों के बाहर पहले रोशनी फैले और फिर भीतर दीया जलायेंगे। इस खयाल में पड़ गए तो बहुत खतरा है। हो सकता है कोई नकली रोशनी लाकर बाहर चिपका ले, तो बात अलग है। लेकिन नकली रोशनी अँधेरे से भी बदतर होती है। नकली फूल असली फूल से भी बुरा होगा, क्योंकि असली फूल न हो तो असली फूल के खोज की पीड़ा होती है, और नकली फूल हाथ में हो तो यह भी खयाल भूल जाता है कि असली फूल को खोजना है।

मनुष्य जाति का अबतक का धर्म शिव से शुरू होता था, सत्य की यात्रा पर निकलता था। इसलिए हम बहुत लोगों को न तो शिव बना पाए, न सुन्दर बना पाए, न सत्य दे पाए। भविष्य में अगर धर्म की कोई संभावना है तो इस प्रक्रिया को पूरा उलट देना पड़ेगा। सत्यं से शुरू करें, शिवं और सुन्दरम् उनके पीछे आएँ। लेकिन ध्यान रहे, सत्यं भी उपलब्ध हो जाय, शिवं भी मिल जाय, सुन्दरम् भी मिल जाय, तो भी हम सिर्फ मनुष्य हो पाते हैं, पूरे मनुष्य। मनुष्य होना काफी नही है, जरूरी है। जैसे ही हम मनुष्य होते हैं, वैसे ही एक नई यात्रा का द्वार खुलता है जो मनुष्यता के भी पार ले जाता है। और जब कोई मनुष्यता के पार जाता है, तभी पहली दफे जीवन में उस आनंद को उपलब्ध होता है जो अस्तित्व का आनंद है, उस स्वतंत्रा को उपलब्ध होता है जो अस्तित्व की स्वतंत्रता है, उस अमृत को उपलब्ध होता है जो अस्तित्व का अमृतत्व है।

इन तीनों के बाहर जाना है, लेकिन हम तो इन तीनों में भी नहीं गए। इन तीनों में जाना है, ताकि इन तीनों के पार जाया जा सके। सत्यं, शिवं सुन्दरम् यात्रा है, अंत नहीं है। मार्ग है, मंजिल नही है। साधन है, साध्य नहीं है। सत्यं, शिवं, सुंदरम् का यह त्रय प्रक्रिया है, और सच्चिदानंद का त्रय

पलब्धि है। उसकी थोड़ी-थोड़ी झलक मिलनी शुरू होती है। जो अपने जीवन
ं शिव को उतार लेता है, जो अपने जीवन में सत्य को उतार लेता है उसके
जीवन में सुख आना शुरू हो जाता है। लेकिन जहाँ तक सुख है वहाँ तक दुख
की संभावनाएँ सदा मौजूद रहती हैं। जो सीमा के पार चला जाता है वहाँ
आनंद आना शुरू होगा। इसलिए न सुख रहा, न दुख रहा। इसलिए आनंद
के विपरीत कोई भी शब्द नहीं है, आनंद अकेला शब्द है मनुष्य की भाषा में
जिसका उलटा नहीं है। सुख का उलटा दुख है और शांति का उलटा अशांति
है और अँधेरे का उजाला है और जीवन का मृत्यु है। आनन्द का उलटा शब्द
नहीं है। आनंद अकेला शब्द है जिसके विपरीत कोई शब्द नहीं है। जैसे ही
हम सुख और दुख के पार होते हैं, आनंद में प्रवेश होता है। मुक्ति का द्वार तो
रमण और कृष्णमूर्त्ति से खुल जाता है। आप कहेंगे, जब द्वार यहीं खुल जाता
है, तो बुद्ध और महावीर और कृष्ण तक जाने की क्या जरूरत है? अलग-
अलग व्यक्ति के लिए अलग-अलग बात निर्भर करेगी। मैं बंबई आता हूँ तो
बोरीवली उतर सकता हूँ। वह भी बंबई का एक स्टेशन है। दादर भी उतर
सकता हूँ, वह भी बंबई का स्टेशन है। सेंट्रल भी उतर सकता हूँ वह भी बंबई
का स्टेशन है, लेकिन वह टर्मिनस है। एक सिर्फ प्रारंभ है और एक अंत
है। कृष्ण टर्मिनस पर उतरते हैं जहाँ ट्रेन ही खत्म हो जाती है। उसके आगे
फिर यात्रा ही नहीं। रमण और कृष्णमूर्ति बोरीवली उतर जाते हैं, महावीर
और बुद्ध और जीसस दादर उतर जाते हैं। अपनी पसंद की बात है। लकिन
रमण और कृष्णमूर्ति तक तो प्रत्येक को पहुँचना ही चाहिए। उसके आगे
बिलकुल पसंद की बात है कि कौन कहाँ उतरता है। वह बिलकुल व्यक्तिगत
झुकाव है। लेकिन बहुत दूर हैं रमण और कृष्णमूर्ति! गाँधी होना ही कितना
मुश्किल मालूम पड़ता है! कितने लोग बेचारे चर्खा चला-चला कर गाँधी
होने की कोशिश करते हैं। चर्खे ही चल पाते हैं और चर्खा परेशान हो जाता
है और वे गाँधी नहीं हो पाते। रवीन्द्रनाथ होना ही कितना मुश्किल है!
कितनी तुकबंदी चलती है, कितनी कविताएँ रची जाती हैं, लेकिन काव्य का
जन्म नहीं हो पाता। कितने लोग आँख बंद कर ध्यान करते हैं, पूजा करते
हैं, उपवास करते हैं। अरविंद होना भी मुश्किल है। लेकिन अगर रवींद्र रवींद्र
हो सकते हैं, अरविंद अरविंद हो सकते हैं, तो कारण नहीं है कि कोई भी
दूसरा व्यक्ति क्यों नहीं हो सकता है। मनुष्य का बीज समान है, उसकी

संभावनाएँ समान हैं। एक बार संकल्प हो तो परिणाम आने शुरू हो जाते हैं।

एक घटना मैं पढ़ रहा था, दो दिन पहले। अमरीका का एक फिल्म अभिनेता मरा। मरने के दस साल पहले उसने वसीयत की थी कि मुझे मेरे छोटे से गाँव में ही दफनाया जाय। लोग महात्माओं की वसीयत नहीं मानते, अभिनेताओं की वसीयत कौन मानेगा? जब वह मरा तो अपने गाँव से दो हजार मील दूर मरा था। कौन फिक्र करता था? मरते क्षण भी उसने कहा कि देखो, मुझे यहाँ मत दफना देना। मैं आखिरी बात तुमसे कह दूँ कि मुझे मेरे गाँव पहुँचा देना, जहाँ मैं पैदा हुआ था। उसी गाँव में मुझे दफनाया जाय। वह मर गया। लोगों ने कहा, मरे हुए आदमी की क्या बात है। उन्होंने ताबूत में बन्द करके उसे दफना दिया। लेकिन रात एक भयंकर तूफान आया और उसकी कब्र उखड़ गई। उसकी कब्र के पास खड़ा हुआ दरख्त गिर गया और उसका ताबूत समुद्र में बह गया और दो हजार मील ताबूत ने समुद्र की यात्रा की और अपने गाँव के किनारे जाकर लग गया। जब लोगों ने ताबूत खोला तो सारा गाँव एकत्र हो गया। वह उनके गाँव का बेटा था जो सारी दुनियाँ में जगजाहिर हो गया था। उन्होंने उसे उसी जगह दफना दिया जहाँ वह पैदा हुआ था। उस अभिनेता की जीवन-कथा मैं पढ़ रहा था। उस लेखक ने लिखा है कि क्या यह उसके संकल्प का परिणाम हो सकता है? यह उसने प्रश्न उठाया है।

अगर मैं आदमियों की तरफ देखूँ तो शक होता है कि संकल्प का परिणाम कैसे हो सकता है? आदमी जिन्दगी में जहाँ पहुँचना चाहता है वह जिन्दा रह कर नहीं पहुँच पाता। यह आदमी मर कर जहाँ पहुँचना चाहता था कैसे पहुँच गया? लेकिन दो हजार मील की यह लम्बी यात्रा और अपने गाँव पर लग जाना और उसी रात तूफान का आना; ऐसा भी नहीं मालूम पड़ता कि संकल्प से बिलकुल हीन हो। संकल्प इसमें रहा होगा। संकल्प की इतनी शक्ति है कि मुर्दा भी यात्रा कर सकता है तो क्या हम जिन्दा लोग यात्रा नहीं कर सकते? लेकिन हमने कभी यात्रा ही नहीं करनी चाही, हमने कभी अपनी इच्छा को ही नहीं पुकारा है, हमने कभी सोचा ही नहीं कि हम भी कुछ हो सकते हैं या हम भी कुछ होने को पैदा हुए हैं या हमारे होने का भी कोई गहरा प्रयोजन है।

कोई गहरा बीज हम में छिपा है जो फूटे और वृक्ष बने और फूलों को उपलब्ध हो, हमें वह खयाल ही नहीं है।

पहले तो जन्म को जीवन मत समझ लेना और पशु होने को मनुष्य होना न समझ लेना। मनुष्य की शकल में मनुष्य की उपलब्धि मत समझ लेना। मनुष्य होने के लिए श्रम करना पड़ेगा, सृजन करना पड़ेगा, यात्रा करनी पड़ेगी और मनुष्य होने के लिए शिवं से शुरू मत कर देना अन्यथा लंबी यात्रा हो जायगी और जन्मों का भटकाव हो जायगा। यात्रा शुरू करनी हो तो सत्य से शुरू करना और शिवं तक फैलाना और अंतिम बात कि सत्य भी मिल जाय, शिवं भी मिल जाय, सुन्दरम् भी मिल जाय तो भी रुक मत जाना। यह भी पड़ाव नहीं है। मनुष्य के ऊपर जाना। मनुष्य होना जरूरी है, लेकिन पर्याप्त नहीं है। मनुष्य के ऊपर उठकर ही मनुष्य का पूरा फूल खिलता और विकसित होता है।

आचार्य रजनीश का साहित्य

अज्ञात की ओर	२.००
अन्तर्यात्रा	प्रेस में
अन्तर्वीणा	६.००
अमृतकण	०.६०
अहिंसादर्शन	०.५०
अस्वीकृति में उठा हाथ (भारत, गाँधी और मेरी चिन्ता)	५.००
कामयोग, धर्म और गांधी	३.००
क्रान्तिबीज	४.००
कुछ ज्योतिर्मय क्षण	१.००
गहरे पानी पैठ	५.००
गीतादर्शन : पुष्प १, २, ३, ५,	१७.००
जीवन और मृत्यु	१.००
जिन खोजा तिन पाइयाँ	२०.००
ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया	४.००
ढाई आखर प्रेम का	५.००
नए संकेत	२.००
नए मनुष्य के जन्म की दिशा	०.७५
पथ के प्रदीप	प्रेस में
परिवार नियोजन	०.७५
प्रभु की पगडंडियाँ	४.००
पूर्व का धर्म : पश्चिम का विज्ञान	०.५०
प्रेम के फूल	५.००
प्रेम और विवाह	१.५०
प्रेम है द्वार प्रभु का	८.००
महावीर : मेरी दृष्टि में	३०.००
मिट्टी के दीए	५.००
मैं कहता आँखन देखी	६.००
मैं कौन हूँ ? (द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)	३.००
मन के पार	१.००
शान्ति की खोज	२.००
साधनापथ	प्रेस
सत्य का सागर शून्य की नाव	

आचार्य रजनीश की चार अनमोल कृतियाँ

१. सम्भावनाओं की आहट

(मनुष्य के स्वयं के अस्तित्व एवं आत्मबोध का परिचय)—
आकार डिमाई, पृष्ठ १६२, दिल्ली १९७१, रु० ६·००

अनुक्रम :—विरामहीन अन्तर्यात्रा; चेतन का अपना द्वार; विपरीत का समन्वय संगीत; अपना-अपना अँधेरा; धारणाओं की आग; अंधे ज्वर; संकल्पों के वाहर।

२. प्रेम है द्वार प्रभु का

(तेरह प्रवचनों का संकलन)— सं० स्वामी योग चिन्मय और f
आकार डिमाई, पृष्ठ २५६, दिल्ली १९७१, रु० ८·००

अन्तर्वस्तु : (१) भय या प्रेम ? (२) जीवन की कला, (३) खोज की सम्यक् दिशा, (४) यह अधूरी दिशा, (५) शिक्षा, महत्त्वाकां युवा-पीढ़ी का विद्रोह, (६) महायुद्ध या महाक्रान्ति ? (७) शिक्षा में (८) नारी और क्रान्ति, (९) अन्तर्यात्रा के सूत्र, (१०) अहंकार, (११ मनुष्य एक यंत्र है ? (१२) मित्र ! निद्रा से जागो, (१३) प्रेम है द्वार प्रभु

३. कामयोग, धर्म और गाँधी

सं० डा० रामचन्द्र प्रसाद
पृष्ठ २२४ : मूल्य रु० ३·००

४. घाट भुलाना वाट विनु

सं० डा० रामचन्द्र प्रसाद
(प्रेस में)